नयी चुनौतियाँ

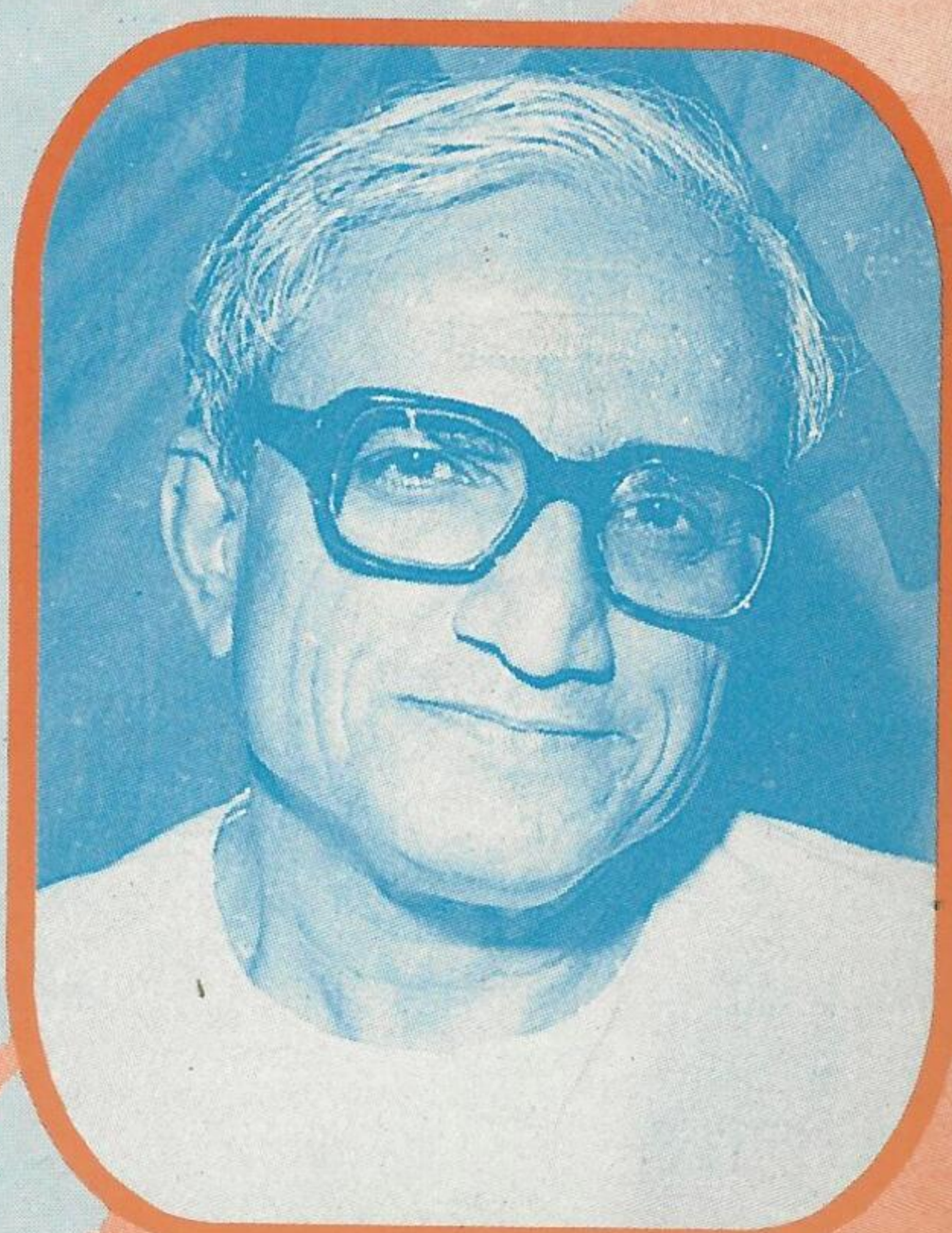

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

नयी चुनौतियाँ : शाश्वत सिद्धान्त

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, नयी दिल्ली–११००५५

नयी चुनौतियाँ

(प्रज्ञा भारती, पुणे के तत्त्वावधान में मा० दत्तोपन्त ठेंगड़ी जी का उद्‌बोधन)

प्रज्ञा भारती क्या है ? इसका प्रयोजन क्या है? हम जानते हैं कि इसे चलाने वाले लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक या प्रचारक हैं।

कार्य-योजना

१९२५ से ही चल रही संघ की कार्य-योजना के लिए प०पू० डॉक्टर जी ने हम लोगों के सामने साध्य-साधन-विवेक रखा है। "परम् वैभवम् नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्" यह साध्य, "विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्" यह साधन और इसका आधार "विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः"। हम हिन्दुओं की विजयशालिनी संगठित शक्ति अर्थात् हिन्दू संगठन के आधार पर धर्म का संरक्षण और उसके फलस्वरूप हिन्दु राष्ट्र का परम वैभव--यह साध्य-साधन-विवेक उन्होंने रखा और फिर कहा कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसमें से पहला जो आधारभूत कार्य है वही करेगा अर्थात् सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक और संगठन बनाने का कार्य। यह बहुत कठिन कार्य है, क्योंकि स्वयंसेवक और मतदाता में बहुत अन्तर होता है। अपने मतदाता तैयार करना उतना कठिन नहीं है, जितना एक स्वयंसेवक का निर्माण करना।

परम वैभव के लिए तो राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य खड़े करने और उनके विचारों को विकसित करने की आवश्यकता है। बहुधा यह सुना जाता है कि यदि हम केवल 'दक्ष-आरम्' ही करेंगे तो यह सब कैसे होगा? तो कहा गया कि संघ दक्ष-आरम् ही करेगा और दूसरा कोई काम नहीं ; लेकिन हिन्दुस्थान में कोई भी भला काम ऐसा नहीं रहेगा जो करणीय हो, किन्तु न हो। कार्य-योजना निर्धारित हुई कि संघ संगठन ही करेगा, अर्थात् स्वयंसेवक-निर्माण करेगा और संघ से प्रेरणा एवं संस्कार प्राप्त किये हुए स्वयंसेवक राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे, वहाँ उपयुक्त कार्यों की रचना और विचारों का विकास करेंगे। इस प्रकार राष्ट्र-पुनर्निर्माण का कार्य होगा। दूसरे शब्दों में, संघ और स्वयंसेवकों के बीच कार्य का बँटवारा है। संघ को संगठन और स्वयंसेवक-निर्माण करना है तथा स्वयंसेवकों को राष्ट्रोपयोगी विचार और कार्य उत्पन्न करना है। इस योजना के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में स्वयंसेवकों ने प्रवेश किया, काम प्रारम्भ किये ; और भी विभिन्न क्षेत्रों में काम प्रारम्भ करेंगे क्योंकि यह बहुत बड़ी योजना है।

प्रज्ञा भारती

प०पू० डॉक्टर जी विलक्षण द्रष्टा थे। उनका चिन्तन बहुआयामी और साथ ही आधारभूत भी था। डॉक्टरजी द्वारा १९२५ में संघ की स्थापना किसी आवेश में या किसी प्रतिक्रिया में नहीं हुई थी। वर्षों तक उन्होंने विचार किया था, उसके परिणामस्वरूप संघ का निर्माण हुआ। एक बृहत् व दीर्घकालिक योजना के अन्तर्गत यह सब चल रहा है। किन्तु जैसे-जैसे स्वयंसेवक अलग-अलग क्षेत्रों में ठीक ढंग से कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास करते जा रहे हैं, एक व्यावहारिक कठिनाई दिखाई देने लगी है। हर एक क्षेत्र में जैसे-जैसे काम बढ़ता है तब विचारों का विकास करने की क्षमता होते हुए भी संगठन, आन्दोलन, अपने विषयों के अध्ययन आदि कार्यों के लिए आवश्यक समय और शक्ति लगाना विभिन्न क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के लिए थोड़ा कठिन होने लगता है। विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले कार्यकर्ता अपने ढंग से विचारों का विकास करते ही हैं, पर उनके पास अन्य इतने काम रहते हैं कि विचारों में कुछ न कुछ न्यूनता रह जाती है। अतः सोचा गया कि इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कोई अभिकरण (एजेन्सी) होना चाहिए, कुछ माध्यम होना चाहिए, तो इसीलिए प्रज्ञा-भारती का निर्माण किया गया। यही इसका प्रयोजन है, यह हम ध्यान में रखें।

हमें भ्रमित और पथभ्रष्ट (गुमराह) करने के लिए अलग-अलग समय पर झूठ तथा गलत बातों के प्रचार का योजनापूर्वक प्रयास पहले भी हुआ है, आज भी हो रहा है, उसमें कुछ पुरानी कपोल-कल्पित बातें हैं और कुछ नयी हैं, जो सामने आती जा रही हैं। उनकी ओर कुछ यहाँ निर्दिष्ट करना उचित रहेगा।

मैकाले-प्रणीत भ्रम

हिन्दुओं को आत्मविस्मृत बनाने के लिए और उनके मन में हीनता का भाव निर्मित करने के लिए मैकाले के वैचारिक नेतृत्व में एक षड्यन्त्र रचा गया जिसके अन्तर्गत अनेक भ्रम फैलाये गये और मिथ्या विचार प्रचारित किये गये। शिक्षा-प्रणाली, साहित्य और इतिहास के विकृतिकरण के माध्यम से इन गलत विचारों को आंग्लभाषा और आंग्ल पद्धति से शिक्षित विद्वानों तथा जनता के मन पर अंकित किया गया। हमारा समाज लम्बे समय तक उन मिथ्या विचारों को प्रमाणित सत्य के रूप में स्वीकार करता रहा। उनको चुनौती देने का विचार भी किसी के मन में नहीं आया। अब लोग उन भ्रमित विचारों से परिचित हो रहे हैं। राष्ट्रभक्त विद्वानों ने उन भ्रमपूर्ण विचारों को चुनौती दी और वास्तविकता को जनता में प्रचारित करने का प्रयास किया। मैकाले-प्रणीत नीति के कारण लोगों के मन में वे गलत विचार तथा

सिद्धान्त इतने दृढ़मूल हो गये थे कि राष्ट्रभक्त लोग कई दशकों तक बचाव की लड़ाई ही लड़ते रहे और अंग्रेज-प्रणीत असत्य सिद्धान्त आक्रामक एवं प्रभावी रहे। किन्तु राष्ट्रभक्त लोगों ने साहस के साथ अपना प्रचार-कार्य चलाये रखा। इसके फलस्वरूप जनता में जागृति आनी प्रारम्भ हुई। धीरे-धीरे सत्य सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ने से पाँसा पलटने लगा। असत्य सिद्धान्त अपने बचाव के लिए बाध्य हुए और सत्य सिद्धांतों की भूमिका आक्रामक होने लगी। आज यह लड़ाई जोरों से चल रही है। वे भ्रामक विचार जो हमारे सामने बड़ी वैचारिक चुनौतियाँ बनकर आये थे, अब छिन्न-भिन्न हो गये हैं। उनके बारे में विस्तृत चर्चा अनेक बार हो चुकी है, अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। उनके केन्द्रीय बिन्दुओं का स्मरण करा देना ही पर्याप्त है, उसी से प्रत्येक के पूर्व-पक्ष तथा उत्तर-पक्ष का स्मरण आपके मन में जागृत हो सकेगा।

'नेशन इन मेकिंग'

यह भ्रम फैलाया गया था कि हिन्दुस्थान कभी एक राष्ट्र नहीं रहा। यह तो अभी निर्माण के दौर से गुजर रहा है। यह 'नेशन इन मेकिंग' (निर्माणाधीन राष्ट्र) है, और क्योंकि यह राष्ट्र नहीं था इसलिए इसकी कोई राष्ट्रीय संस्कृति भी नहीं थी। यह भी प्रचारित किया कि यहाँ की संस्कृति मिली-जुली (कम्पोजिट) है। आर्यों ने बाहर से आकर आक्रमण किया और यहाँ के मूल निवासियों को परास्त कर अपना अधिराज्य यहाँ स्थापित किया। जिस प्रकार अंग्रेज और मुसलमान बाहर से आये, वैसे ही आर्य भी बाहर से आये हैं। मूल निवासियों को कुचल दिया गया। हिन्दू भी, जो आर्यों के उत्तराधिकारी और अनुवर्ती हैं, यहाँ के मूल निवासी नहीं हैं, वे भी इस देश के लिए उतने ही पराये व आक्रमणकारी हैं जितने मुसलमान और अंग्रेज हैं। द्रविड़ लोग यहाँ के मूल निवासी हैं, उनका अलग राष्ट्र है, अलग संस्कृति है, अलग भाषा है जिनको नष्ट करने का प्रयास उत्तर भारत के आर्य हिन्दू कर रहे हैं। धर्म और रिलीजन समानार्थक हैं। आर्य वंशवाचक शब्द है, गुणवाचक नहीं। राष्ट्र और राज्य भी समानार्थक हैं। संस्कृत मृतभाषा है। हिन्दू एक पूजा-पद्धति (रिलीजन) है। हिन्दुत्व संप्रदायवाचक (कम्युनलिज्म) है, 'एण्टी सेक्युलर' है। अंग्रेजों के आने से पूर्व यहाँ कोई सभ्यता नहीं थी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी (टैक्नोलॉजी) का अभाव था। जनता को शिक्षा देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। जो कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान था उस पर ऊपर के थोड़े लोगों का एकाधिकार था। उन्होंने बहुजन-समाज को जानबूझ कर अज्ञान में रखा ताकि ऊपर के उस अल्पसंख्य वर्ग का प्रभुत्व सम्पूर्ण समाज पर अबाधित रूप से बना रहे। उन लोगों ने बड़ी चतुराई से बहुसंख्य लोगों को संभ्रमित करते हुए उन पर ऐसी विषमतापूर्ण समाज-रचना थोप दी जिसमें इन

थोड़े लोगों का प्रभुत्व समाज पर रहे, बहुजन-समाज बहुसंख्य होते हुए भी ऊपर के अल्पसंख्यकों की 'गुलामी' में रहे। इस बहुजन-समाज-विरोधी रचना को धर्म-प्रणीत वर्णव्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था का नाम देकर धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी। जाति यहाँ की आधारभूत इकाई मानी गयी, 'परिवार' या 'राष्ट्र' नहीं। इन सब मिथ्या धारणाओं को आंग्ल-भाषी विद्वानों ने स्वीकार कर समाज में प्रसारित किया। अब इन मिथ्या प्रतिपादनों का तर्कशुद्ध खण्डन हो चुका है। जनमानस की भ्रांतियाँ भी दूर होने लगी हैं। गलत प्रचार करने वाले अब अपने बचाव की लड़ाई लड़ रहे हैं और सत्य सिद्धांत आगे बढ़ रहे हैं। वैचारिक क्षेत्र में परिवर्तन (बदलाव) प्रारम्भ हो चुका है, विचारों की सही दिशा में प्रगति प्रारम्भ हो गयी है। अब आंग्ल शिक्षा-विभूषित लोगों के ध्यान में धीरे-धीरे आ रहा है कि भारत को एक बहुराष्ट्रीय राज्य मानने का सिद्धान्त गलत है। उसके स्थान पर वास्तविकता यह है कि भारत बहुत पहले से एक बहुराज्यीय राष्ट्र रहा है और आज भी है। पाकिस्तान और बंगलादेश दो राष्ट्र नहीं प्रत्युत् उसके दो राज्य-खण्ड हैं, जिनका अलग से कोई राष्ट्र नहीं है।

सर्वसमावेशक हिन्दुत्व

यह कहना गलत है कि भारत एक बहुसांस्कृतिक राष्ट्र है। वास्तविकता यह है कि हिन्दू संस्कृति बहुआयामी है। पूजा-पद्धति या मत की ओर देखने की हिन्दू की एक विशिष्ट दृष्टि है। पूजा-पद्धति (रिलीजन) को हिन्दू बिल्कुल निजी मानता है, जैसा कि दाँत माँजने का ब्रश प्रत्येक व्यक्ति का निजी होता है। हिन्दुत्व सर्व-समावेशक है, सर्वग्राही है। इसी कारण महात्मा गान्धी जी ने कहा था कि इस्लाम और क्रिश्चियनिटी भी हिन्दुत्व के अन्तर्गत सरलता से समाविष्ट हो सकते हैं। चार्वाक-प्रणीत लोकायत मत भी इसका एक अंग है। अंग्रेजी में दो मुहावरे हैं : 'either-or' (दो में से कोई एक) तथा 'as well as' (भी)। हमारी संस्कृति 'as well as' अर्थात 'भी' वाली है, दो में से एक वाली नहीं। 'दो में से एक' वाली अवधारणा अहिन्दु है।

इसी कारण मुसलमानों के विषय में सोचा गया कि उनका पुरस्कार (अपीजमेण्ट) नहीं, और बहिष्कार भी नहीं, वरन् परिष्कार होना चाहिए। हिन्दू और मानव समानार्थक (पर्यायवाची) शब्द हैं—दोनों का एक ही आशय है। सभ्यता के आदिकाल से ही हमने स्वयं को सम्पूर्ण मानवजाति के साथ एकरूप माना। इसलिए हमारे समस्त विचार, वेदों में हमारी प्रार्थनाएं सभी मनुष्यों के कल्याण के लिए हैं : मानव मानव की सब ओर से रक्षा करे—"पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः" (Let man protect man from all sides) इत्यादि। इसी प्रकार का चिंतन हमारे पूरे वाङ्मय में

मिलता है और इसी कारण हमारे प्राचीन साहित्य में 'हिन्दु' या 'हिन्दू' शब्द मिलता ही नहीं। किन्तु जब पृथ्वी पर कुछ ऐसे जनसमूहों का निर्माण हुआ जो सम्पूर्ण मानव जाति के साथ एकात्म होने के लिए तैयार नहीं थे, जो अपनी अलग पहचान रखना चाहते थे और वे उस पहचान (आइडेण्टिटी) को अन्य सब लोगों पर थोपना भी चाहते थे तो जब वे जनसमूह भारत में आये तब इस देश के लोगों को यह स्पष्ट करने के लिए कि हम उन समूहों से भिन्न हैं, हमें अपनी पहचान व्यक्त करने वाला शब्द प्रयोग करना पड़ा। वह पहले से हमें उपलब्ध भी था। बाहर के लोगों ने हमारे बारे में कहा था कि सिन्धु के इस पार रहने वाले लोग सिन्धु हैं, ये हिन्दु लोग हैं। सब जानते हैं कि 'स' का 'ह' हो जाता है। इसलिए हिन्दु शब्द हमें पहले से उपलब्ध था। जैसे किसी भी नगर या बाजार में यदि केवल विशुद्ध घी आता है तो दुकान के नाम-पट पर लिखना पर्याप्त होता है—'घी की दुकान'। किन्तु घी के बाजार में जब डालडा भी आ जाता है, वनस्पति घी (वेजीटेबल घी) प्रवेश करता है, तब जो विशुद्ध घी की दुकान वाले हैं उनको नाम-पट (साइन बोर्ड) लगाना पड़ता है — 'विशुद्ध घी की दुकान'। जब संसार में सभी एक जैसे थे तो हमने किसी नाम से अपनी अलग पहचान रखी ही नहीं। किन्तु जब ये डालडा और वेजीटेबल घी वाले हमारे मार्केट में आ गये तब 'हम डालडा नहीं, वेजीटेबल घी नहीं', यह बताने के लिए हमको कहना पड़ा कि हम उनके जैसे नहीं हैं, हम हिन्दु हैं। अन्यथा 'हिन्दु' और 'ह्यूमन' (मानव) का अर्थ समान है।

सनातन धर्म, युगधर्म

हमारी कुछ परम्परागत मान्यताएं हैं। हमारा अधिष्ठान सनातन धर्म है। लोग समझते नहीं हैं कि इसका इतना प्रभाव है। मैं अधिक उदाहरण यहाँ देना नहीं चाहता। पंडित जवाहरलाल नेहरू जिन्होंने जीवनभर 'धर्म' शब्द की निन्दा की, मृत्यु के २४ घण्टे पहले श्रीमन्नारायण अग्रवाल की पुस्तक के लिए उन्होंने प्रस्तावना लिखी और उसमें स्पष्ट कहा कि 'हमें क्या प्राप्त करना है ? हमें औद्योगिक उत्पादन बढ़ाना है, कृषि-उत्पादन बढ़ाना है, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि हमें मानव की सोच बदलनी है, उसके चिन्तन को धर्म के आधार पर ढालना है (to mould man's mind on the basis of Dharma)।' यह जवाहर लाल जी कहते हैं तो कोई माने या न माने, इसका सभी लोगों पर यह प्रभाव है।

पं० दीनदयाल जी ने सनातन धर्म का युगानुकूल भाष्य एकात्म मानव दर्शन के रूप में किया हुआ है। हमारे द्रष्टाओं ने जिन नियमों का दर्शन किया वे वैश्विक और आधारभूत हैं। वे शाश्वत हैं अपरिवर्तनीय हैं। उनके प्रकाश में अलग-अलग कालखण्डों की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर सामाजिक व आर्थिक संरचना में

परिवर्तन करते रहना हमारी पद्धति है और उन अपरिवर्तनीय, सार्वभौम, शाश्वत नियमों के प्रकाश में सतत परिवर्तनशील सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का निर्माण ही धर्म का स्वरूप है। इसी प्रकार युगानुकूल समाज-रचना की 'युगधर्म' संज्ञा है। यही आज का एकात्म मानव दर्शन है। जो समाज-व्यवस्था सनातन धर्म की परिधि (दायरे) में रहेगी, उसके अन्दर अन्तर्विरोध कभी निर्मित नहीं हो सकते। जो-जो समाज-व्यवस्थाएं सनातन धर्म की परिधि के बाहर रहेंगी, उनके अन्दर अन्तर्विरोध उत्पन्न होना अपरिहार्य है। ऐसी समाज-व्यवस्थाएं अपने ही अन्तर्विरोध के बोझ के नीचे दबकर नष्ट हो जाती हैं। इसी क्रम में कम्युनिज्म समाप्त हो चुका है और पूँजीवाद (कैपिटलिज्म) सन् २०१० के पूर्व ही पूर्णरूपेण समाप्त हो जायेगा, ऐसा हम आश्वस्त होकर आपको कह सकते हैं।

सर्वांगीण एकात्म चिन्तन

प०पू० श्री गुरुजी का 'World-mission of Hindus' (हिन्दुओं का विश्व-व्रत) हमें बताता है कि वैश्वीकरण (ग्लोबलाइजेशन) का सही अर्थ क्या है। विचार की सम्पूर्णतापरक एकात्म पद्धति हमारी विशेषता है। अलग-अलग खण्डों में विभाजित एकांगी सोच अब तक पश्चिम की विशेषता रही है। अब वे भी अन्तरशास्त्रीय सर्वविषय-समावेशक पद्धति की ओर आ रहे हैं। हमारे संपूर्ण चिन्तन का आधार है वह साक्षात्कार जो हमारे द्रष्टाओं ने किया और जो हम सब भले ही नहीं कर सकते, किन्तु उनके साक्षात्कार को हमने जीवन-मूल्य के नाते स्वीकार किया, वह है–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" जिसका सरल हिन्दी भाषान्तर होता है : 'सब एक ही है'। यह नहीं कि 'सब एक हैं', वरन् 'सब एक है'। 'एक हैं' और 'एक है' बोलने से अलग-अलग मनोभाव सामने आते हैं। सभी का अंतिम गंतव्य स्थान एक ही है – सभी का, सब प्राणियों का सुख, घनीभूत सुख, चिरंतन सुख, निरंतर सुख, जिसको अध्यात्म विद्या की शब्दावली में 'मोक्ष' संज्ञा दी गयी है। वहाँ तक पहुँचने के मार्ग अनेक हैं, अनन्त हो सकते हैं। इसे कहा जाता है–'स्याद्वाद' जिसे अपने जैन दर्शन ने विशेष रूप से उद्भावित किया है।

विकास की भारतीय अवधारणा

सीधे-सीधे सामाजिक सन्दर्भ में सुख का अर्थ होता है–'सर्वे भवन्तु सुखिनः' या 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' तथा 'सर्वभूतहिते रताः' अर्थात् 'सब सुखी हों' तथा 'सब का हित करने में लगे रहें'। इसका अनुप्रमेय हुआ–'निर्धनों में भी निर्धनतम का सुख'–वह जो समाज में सबसे नीचे की सीढ़ी पर रह गया है, उसका भी सुख। उसे ऊपर लाने और सबके साझे सुख में सहभागी बनाने का उपक्रम है अन्त्योदय,

सर्वोदय। यह हमारी विकास की अवधारणा है।

विकास का पाश्चात्य प्रतिमान या प्रादर्श धर्म-विरुद्ध है, हिन्दुत्व का विलोम है, पर्यावरण-विरुद्ध है। हमारे यहाँ पर्यावरण की चिन्ता वैदिक काल से हुई हैं। १९७२ में स्टाकहोम के अन्तराष्ट्रीय पर्यावरण-सम्मेलन में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जब कहा कि वैदिक काल से हमारे यहाँ पर्यावरण-विद्या (इकोलॉजी) रही है, अतः आज भी हम उसकी चिन्ता कर रहे हैं, तो सबको आश्चर्य हुआ। आप जानते होंगे कि अथर्ववेद का बारहवाँ अध्याय जो ६३ मन्त्रों का है, पूरा पर्यावरण के लिए दिया हुआ है। विकास का हमारा मार्ग है 'चतुर्विध पुरुषार्थ', न कि आजकल की मुनाफाखोरी, कृत्रिम अभाव और बढ़ती महँगाई की अर्थ-व्यवस्था जिसमें दुर्बलों का शोषण होता है और सारा धन कुछ ही हाथों में इकट्ठा होता जाता है।

विकास के सम्बन्ध में हमारी हिन्दु धारणा है – प्रत्येक व्यक्ति का सम्पूर्ण, सर्वांगीण, उसके शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा सभी का विकास, सारे समाज का सम्पूर्ण विकास। यह विकास आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का होना आवश्यक है क्योंकि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं। जैसा हमारी प्रार्थना में भी आता है–"समुत्कर्षनिःश्रेयसस्यैकमुग्रम्", यहाँ 'समुत्कर्षनिःश्रेयसस्य' में समुत्कर्ष (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण) के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकवचन में ही किया गया है, द्विवचन के नाते नहीं, अर्थात् समुत्कर्ष और निःश्रेयस को एक ही शब्द माना गया है, अतः दोनों ही अभिन्न रूप से आवश्यक हैं। हमारे इन विचारों को शिक्षित लोगों में अधिकाधिक मान्यता प्राप्त होने लगी है। यह एक मील का पत्थर है, प्रगति का नया मोड़ है।

हमारा पराक्रम और ये रक्तबीज !

विदेशियों द्वारा बुद्धि-पुरस्सर प्रसारित मिथ्या सिद्धान्तों ('myths') को ध्वस्त करने में यशस्वी होने की प्रक्रिया चल ही रही है कि उतने में अब नयी भ्रान्तियों, नये मिथ्या विचारों का आक्रमण हमारे ऊपर प्रारम्भ हो गया है। यह ठीक उसी ढंग से हुआ है जैसे ११०० वर्ष पराये आक्रामक राज्य का प्रतिरोध करते हुए हिन्दु सैनिक-शक्ति ने १८वीं शताब्दी मध्योपरान्त यावनी वर्चस्व को निर्णायक रूप से ध्वस्त करने में यश प्राप्त करना प्रारम्भ किया ; अटक से कटक तक हमारे विजयी अश्व संचार करने लगे ; यह प्रक्रिया सम्पूर्ण यशस्विता की ओर तेजस्विता से आगे बढ़ रही थी (निर्णायक विजय प्राप्त करने की ओर) कि इतने में एक नया आक्रमण अंग्रेजों का एकाएक प्रबल रूप में हमारे सामने आया और उसका सामना करना आवश्यक हो गया। यावनी आक्रमण का प्रतिकार हमने कितनी वीरता से किया इसका जीवन्त विवरण देता शब्द-चित्रांकन सावरकर जी ने किया है। वह मराठी में

है। हिन्दी में लोग इतना ही समझ लें कि इसमें कितनी वीरता प्रकट हुई इसका ही वर्णन है। उन्होंने कहा–

"ईराण पासुनि फिरंगाण पर्यन्त शत्रुची उठे फज्ज,
सिन्धु पासुनि सेतुबन्ध पर्यन्त रणांगण भूचाली।
तीन खण्डिचा कुण्डाची ती परन्तु सेना बुड़वीली,
सिन्धु पासुनि सेतुबन्ध पर्यन्त समरभू लड़वीली॥"

यह प्रक्रिया पूर्ण होने के पूर्व ही अचानक अंग्रेजों का प्रबल आक्रमण हमारे सामने आया। सैनिक, राजनीतिक क्षेत्र में यह जो प्रक्रिया हुई उसी की पुनरावृत्ति हमारे वैचारिक क्षेत्र में आज हो रही है। पुरानी भ्रान्तियों के विरुद्ध हम यशस्वितापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं, उतने में नयी भ्रान्तियों का आक्रमण तेजी से प्रारम्भ हो गया है। यहाँ ध्यान में रखने योग्य यह विशेष बात है कि ऐतिहासिक काल में आक्रमण का ठीक प्रत्युत्तर देने में हमें ११०० वर्ष लगे। नये आक्रमण का स्वरूप भीषण है। वह हमें अधिक समय देनेवाला नहीं। शीघ्रातिशीघ्र इसका याशस्वी प्रतिकार नहीं किया तो एक दशक के अन्दर-अन्दर यह आक्रमण हमारी स्वतन्त्रता और संप्रभुता को समाप्त कर देगा। देश में बेकारों की संख्या करोड़ों में हो जायेगी।

इस गलत प्रचार के अभियान का प्रारम्भ जून १९४५ से हुआ जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ और पूर्व-साम्राज्यवादी देशों ने यह समझ लिया कि अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के दबाव के कारण अपने उपनिवेशों को स्वातंत्र्य देना उनके लिए अपरिहार्य हो जायेगा और उस स्थिति में अपनी-अपनी स्वयं की अर्थव्यवस्था के ढाँचे को टिकाये रखना उनके लिए संभव नहीं होगा क्योंकि तब तक की उनकी समृद्धि तो उनके उपनिवेशों के शोषण के आधार पर ही खड़ी थी। अपनी अर्थव्यवस्था टूट न जाये, इसके लिए उन देशों के लिए यह आवश्यक था कि अन्य देशों का शोषण करने का अवसर उन्हें अखण्ड प्राप्त होता रहे। किन्तु यह अब कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि नवस्वतन्त्र देशों के स्वाभिमानी देशभक्त यह कभी भी सहन नहीं कर सकते कि स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् भी उनके देशों का शोषण गोरे देशों के द्वारा चलता रहे और उन्हें आर्थिक दासता में धकेल दिया जाय। इसलिए कौनसी रणनीति अपनायी जाय, इसका विचार उन्होंने किया।

रणनीति यह निश्चित हुई कि नवस्वतन्त्र देशों में अपने लिए अनुकूल लोग शासन-सत्ता में आ जायें, इसकी व्यवस्था की जाय ; उसके लिए यदि हिंसा की आवश्यकता हो, रक्तपात करना पड़े, तो वह भी करना चाहिए। किन्तु ये अनुकूल शासक इस प्रकार के होने चाहिए कि गोरे साम्राज्यवादी देश उनकी अपनी जनता का शोषण करें तो उस प्रयास में वे निःसंकोच, निर्लज्जता के साथ विदेशी शोषकों से पूर्ण सहयोग करें। अपने देश के साथ द्रोह करने में उनको संकोच न हो। फिर

सभी देशों की जनता को अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक घटनाओं के बारे में पूर्णरूपेण अन्धेरे में रखकर, पहले ही खरीदे गये उनके राज्यकर्ताओं के साथ समझौते करना। इन समझौतों का पूर्ण विवरण प्रकाशित न करते हुए, उसमें से 'मीठा-मीठा गप' वाले भ्रामक अंश ही प्रचार-माध्यमों (मीडिया) में प्रकाशित करना। और फिर समझौते के क्रियान्वयन के समय उसके लोक-विरोधी परिणामों से लोग अस्वस्थ, असंतुष्ट, और रुष्ट भले ही हो जायें, किन्तु प्रतिकार करने की अवस्था में न रहें। वे किंकर्तव्यविमूढ हो जायेंगे—समझ ही नहीं पायेंगे कि क्या करें! आकाश से एकाएक कुल्हाड़ी आ पड़े तो मनुष्य जैसा भौंचक्का होता है, वैसी ही उनकी अवस्था हो। विभिन्न देशों के स्वाभिमानी राष्ट्रभक्त विदेशी आर्थिक साम्राज्य के विरोध में जनता को जागरूक करने के लिए क्या-क्या कह सकेंगे, क्या-क्या तर्क प्रचारित करेंगे, इसका पहले से ही उनके विशेषज्ञों ने ठीक ढंग से अनुमान किया और ऐसे समस्त तर्कों को निष्प्रभाव करने के लिए पहले से ही इस प्रकार का मिथ्या प्रचार चालू करना निश्चित किया जिसके सघन प्रचार से देशभक्तों के तर्क व्यर्थ हो जायें। उन्होंने सभी संभावनाओं का अनुमान लगाकर बहुत सारे झूठ, ऐसे तर्क पहले से ही प्रचारित किये। उनको ज्ञात था कि प्रचार का बहुत लाभ होता है, जैसे डॉ० गोएबिल्स ने कहा कि 'असत्य को सौ बार दुहराओ तो वही 'सत्य' बन जाता है।' हिटलर एक कदम आगे जाकर कहने लगा कि 'यदि तुम झूठी बात चलाना चाहते हो तो सरल-सा झूठ मत बोलो, बड़ा झाँसा दो—इतना बड़ा कि कोई सोच भी न सके यह छल होगा।'

ऐसे प्रचार-तन्त्र के आधार पर ये जो नये गढ़े हुए असत्य अभी-अभी यहाँ चलाये जा रहे हैं मैं उनकी व्याख्या यहाँ नहीं करना चाहता, क्योंकि उनकी चर्चा देश में चल रही है। विदेशी पूँजी के आक्रमण के बारे में सभाएं हुई हैं। स्वदेशी जागरण मंच के द्वारा यह विषय देशभर में उठाया गया है। पूरे देश में दो बार, दो पखवाड़े तक स्वदेशी का सघन प्रचार हुआ है। इसलिए उन सारे तर्कों, प्रश्नोत्तरों आदि में यहाँ समय देना नहीं चाहता। किन्तु एक बात कहना चाहता हूँ कि विदेशी पूँजी के पक्ष में, जिसमें विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन (वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन), बहुराष्ट्रीय निगम और अमेरिका आदि जो गोरे देश हैं, इन सब का प्रचार बहुत दिनों से चलने के कारण सभी लोगों के मन पर प्रभाव हुआ है। इतना ही नहीं, हमारे मन पर भी प्रभाव हुआ है। प्रचार का तो परिणाम होता ही है। कभी-कभी बात की गम्भीरता या भीषणता न जानने के कारण इस प्रकार के विचार आने लगते हैं कि क्या है, थोड़ा-बहुत अन्तर होगा, १९-२० का! उससे क्या होता है? बाद में देख लेंगे। ऐसे विचार कुछ अपने भी लोगों के मन में आने लगे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे देशभक्त नहीं हैं, राष्ट्र-समर्पित नहीं हैं,

विचारशील नहीं हैं। वास्तव में वे समस्या के परिमाण को जानते नहीं हैं। इसका मुझे अभी-अभी अनुभव आया, जिसे मैं यहाँ रखना चाहता हूँ।

प्रौद्योगिकी का पश्चिमी आदर्श

हमारे दो अच्छे, पुराने, संघ के ही कार्यकर्ता थे। हमारे साथ उनकी यह बहस चलती थी कि आप प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) के बारे में संकीर्ण रूढ़िवादी नीति क्यों लेते हैं? हमने जो कहा कि राष्ट्रीय प्रौद्योगिक नीति होनी चाहिए, तो वे बोले– 'यह प्रतिबन्ध या प्रारक्षण क्यों ? प्रौद्योगिकी जितनी अद्यतन (अप-टु-डेट) रहेगी, उतना देश आगे बढ़ेगा,' इत्यादि-इत्यादि। हम जो बोलते थे उसका उन पर अधिक प्रभाव नहीं होता था। वे कहते थे कि ठीक है, थोड़ा-बहुत चलता है। अभी १५ दिन पूर्व 'आर्गनाइजर' (Organiser) में हमारा एक लेख आया था–'स्वदेशी एण्ड टेक्नोलॉजी' (स्वदेशी और प्रौद्योगिकी) तो उसमें यह बताया कि प्रौद्योगिकी का विकास कैसे-कैसे हुआ, कहाँ तक हुआ है, उसका परिणाम क्या है। और, उनका (पाश्चात्य) आदर्श क्या है 'टेक्नोलॉजी' का यह भी बताया क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगम (मल्टी-नेशनल्स) यहाँ आयेंगे तो उनका आदर्श तो वही रहेगा कि अधिक से अधिक लाभ (मुनाफा) अर्जित करना है।

दक्षिणी कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डॉ. वैरेन ने भी वही आदर्श बताया है। उन्होंने कहा कि हम टेक्नोलॉजी (प्रौद्योगिकी) को उस अवस्था में ले जाना चाहते हैं जब बड़े से बड़ा कारखाना दो कर्मचारियों के भरोसे हम चला सकेंगे। कौन दो कर्मचारी ? एक कुत्ता और एक मनुष्य। कुत्ता किस लिए ? इसलिए कि सारे यन्त्र-समूह तो कारखाने के स्वामी के बटन दबाने के बाद स्वयं चलते रहेंगे परन्तु उसमें कोई आकर हाथ न डाले, बाधा उत्पन्न न कर दे, इसलिए एक अच्छा अल्सेशियन कुत्ता रखेंगे और कुत्ते को दिनभर खिलाने-पिलाने के लिए एक मनुष्य रखेंगे। इस प्रकार दो कर्मचारियों के भरोसे बड़े से बड़ा कारखाना चलायेंगे। यही इनका आदर्श है।

अभी यूरोपीय समुदाय ने इटली-जर्मनी-फ्रांस-बेल्जियम इत्यादि छः छोटे देशों में इस प्रौद्योगिकी का प्रभाव देखने के लिए एक समिति नियुक्त की। इन छोटे देशों में भी आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण लाखों लोग जीविकाविहीन (बेरोजगार) हुए दिखाई देते हैं। उत्तरी अमेरिका में अमेरिकी संसद् को 'अमेरिकन कांग्रेस' कहते हैं, उसकी 'अन्तरिक्ष, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकियों हेतु संसदीय समिति (हाउस कमेटी फॉर स्पेस, साइंस एण्ड टेक्नोलॉजीज)' के अध्यक्ष जॉज ई. ब्राउन ने प्रकट रूप से वक्तव्य दिया कि अमेरिका में जो बेकारी बहुत बढ़ रही है इसका प्रमुख कारण प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) है। अमेरिकी श्रमिक संघ (अमेरिकन फेडरेशन ऑफ

लेबर) इस टेक्नोलॉजी का विरोध कर रहा है।

जब हम अमेरिका का नाम लेते हैं तब कृपा करके ऐसा मत समझिए कि हम सब अमेरिकी लोगों के विरुद्ध हैं। यह असत्य है। सामान्य अमेरिकी नागरिक हमारे जैसा ही निर्दोष है, अनभिज्ञ है। हम जब अमेरिका का नाम लेते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है संयुक्त राज्य अमेरिका के शासकों और निहित स्वार्थी पूँजीपतियों की धुरी, जिनकी साँठ-गाँठ की हम अमेरिका के नाम से निन्दा कर रहे हैं। आप सज्जन हैं, इसलिए ये लोग कितने दुष्ट हो सकते हैं इसकी आप कल्पना ही नहीं कर सकते। उन्होंने देखा कि अन्य देशों का शोषण करने में उनको समय लग रहा है। धीरे-धीरे लोग जागृत हो रहे हैं, प्रतिकार कर रहे हैं। यूरोप के लोग भी अब पहले के समान उनके बिल्कुल बगल-बच्चे होने से इन्कार कर रहे हैं। ऐतिहासिक घटनाक्रम के कारण जो चीन और जापान अमेरिका के गुर्राने पर दुम दबाकर भागते थे, वे आज बराबरी के नाते खड़े हो रहे हैं। फिर एक नया अनुभव उनको आया कि तृतीय विश्व के देशों में श्रम सस्ता है, श्रमिकों को पैसा कम देना पड़ता है, परन्तु उन देशों का औद्योगिक उत्पादन अमेरिका की तुलना में कम उत्कृष्ट होता है, उत्पादकता (productivity) भी कम रहती है। किन्तु पाँच-छः स्थानों पर उनका ऐसा अनुभव रहा कि कम पारिश्रमिक लेने वाले श्रमिकों ने भी उतनी ही उत्पादकता से उतना ही उत्कृष्ट उत्पादन करके दिया, तो इनके मन में लालच उत्पन्न हुआ कि अमेरिकी पूँजी के द्वारा जो नये उद्योग प्रारम्भ करने हैं वे क्यों न तृतीय विश्व के देशों में प्रारम्भ किये जायें? सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रमिकों के कारण लाभ की मात्रा बहुत बढ़ जायेगी। अमेरिकी पूँजी का निवेश अमेरिका में न करते हुए विदेशों में करने के कारण अपने देशवासी, अपने ही बन्धु बान्धव, सगे-सम्बन्धी कितने बेकार हो जायेंगे, इसका भी उन्होंने विचार नहीं किया! जहाँ अमेरिका के उद्योग रुग्ण हो जाते हैं, वहाँ परिपाटी है कि वहाँ की सरकार उनको आर्थिक सहायता देकर फिर से स्वस्थ करती है। सरकार ने भी सोचा कि रुग्ण उद्योगों का अर्थपोषण (सब्सिडाइज) करने में बहुत ज्यादा डॉलर देने पड़ेंगे, क्यों न ये सारे उद्योग उठाकर तृतीय विश्व में ले जायें ? वहाँ सस्ते में उत्पादन होगा और लाभ (मुनाफा) अधिक रहेगा। उनमें काम करने वाले उनके जो अपने सगे, अपने बन्धु, सारे कैसी भुखमरी में पड़ जायेंगे, इसका उन्होंने विचार नहीं किया। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इनकी मानसिकता की आप सज्जन लोग कल्पना ही नहीं कर सकते। हमारी सज्जनता हमारी दुर्बलता भी है। ये इतने पशुवत् निष्ठुर हैं कि इनको किसी भी प्राणी के प्रति प्रेम नहीं है, दया नहीं है, करुणा नहीं है। जो अपने देशवासियों को भुखमरी में डाल सकते हैं वे आपकी क्या चिन्ता करेंगे?

दूसरा स्वातन्त्र्य-युद्ध

इस प्रकार यह बहुत बड़ी चुनौती है। किन्तु अपने यहाँ उसके विषय में जानबूझ कर लोगों को अन्धेरे में रखा गया है। उनके असत्य प्रचार का ऐसा कुछ विचित्र परिणाम हुआ है कि इसके कारण अपने भी कुछ लोग सोचते हैं कि अरे भाई, अन्तर कितना पड़ता है ! १९-२० का अन्तर पड़ेगा। परन्तु यह १९-२० का अन्तर नहीं है, धन सौ (+१००) और ऋण सौ (–१००) का अन्तर है, बहुत बड़ा अन्तर है। इससे देश नष्ट हो जायेगा। हमारे उद्योग उनके हाथ में जायेंगे, कृषि उनके हाथ में जायेगी, अनुसन्धान उनके हाथ में जायेगा, हमारी संप्रभुता समाप्त हो जायेगी। अर्थात् हमने जो स्वतन्त्रता का युद्ध १९४७ में जीत कर राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की थी, अब वैसा ही दूसरा स्वातन्त्र्य-युद्ध हमको लड़ना पड़ेगा जो आर्थिक स्वतन्त्रता का युद्ध है। अन्तर इतना है कि पहली लड़ाई में एक ओर अंग्रेज सरकार और दूसरी ओर हम भारतवासी थे, किन्तु यह युद्ध केवल दो तक सीमित नहीं है। यह तो तीसरा विश्वयुद्ध चल रहा है। युद्ध प्रारम्भ हो चुका है। पहले दो विश्व-युद्ध सैनिक शस्त्रों से लड़े गये थे, यह तीसरा विश्वयुद्ध आर्थिक शस्त्रों से लड़ा जा रहा है। अतएव तीसरे विश्वयुद्ध के अन्तर्गत भारत का दूसरा स्वातन्त्र्य-संग्राम तेजी के साथ लड़ने की आवश्यकता है। उसकी तैयारी करने की आवश्यकता है। हमारे अच्छे-अच्छे राष्ट्रभक्त, राष्ट्र-समर्पित लोग भी उनके मिथ्या प्रचार के शिकार होकर और समस्या की भीषणता को न समझने के कारण कभी-कभी स्वदेशी के बारे में अन्यथा सोचते हैं, उन्हें सारा समझने का प्रयास करना चाहिए। ये जो नये गढ़े हुए मिथ्या विश्वास हैं इनकी वास्तविकता को भी जनता में प्रचारित करने की आवश्यकता है। इसका विरोध जागृत जनता के द्वारा ही होगा।

मैं आपको बताना चाहता हूँ कि हमारी स्वतन्त्रता बेची गयी है। जिस समय पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार ने 'गैट' (GATT) की सन्धि पर हस्ताक्षर किये और विश्व व्यापार संगठन (WTO) की सदस्यता स्वीकार की, तभी हम बेचे गये हैं। उनके सामने एक चेतावनी थी। कनाडा के शासक दल ने ऐसी ही एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे जिसे Non-American Free Trade Agreement (NAFTA) कहते हैं। जब कनाडा के लोगों के सामने मीठा-मीठा गप आया तो लोगों ने सोचा कि ठीक है, इसमें आपत्ति क्या है ? पूर्ण सच्चाई सामने नहीं आयी। जब क्रियान्वयन प्रारम्भ हुआ, तब पता चला कि यह तो घातक है। उसके विरुद्ध असंतोष और आन्दोलन हुआ और राज्यकर्ता दल के दुर्भाग्य से उसी समय चुनाव आया। लोग इतने रुष्ट थे 'नाफ्टा' (NAFTA) पर हस्ताक्षर करने के कारण कि सत्तारूढ़ दल सत्ताच्युत कर दिया गया, उसके केवल दो सदस्य संसद् में जा सके। विरोधी दल का बहुमत आया और उस दल के नये प्रधानमंत्री ने प्रथम पत्र राष्ट्रपति क्लिंटन को लिखा कि हम

जानते हैं कि सभ्य सरकारों की परिपाटी पूर्ववर्ती शासन द्वारा स्वीकृत अनुबन्धों का पालन करने की है, परन्तु यह अनुबन्ध तो स्पष्टतः इतना अन्यायपूर्ण है कि मैं उस पर पुनः वार्ता करने की माँग करता हूँ। मैं समझता हूँ कि संसार के इतिहास में यह प्रथम अवसर है जब कोई प्रधानमंत्री दूसरे को उसी अनुबन्ध पर दुबारा वार्ता करने के लिए लिख रहा है। यह उदाहरण सामने होने के कारण और अपने देश में भी आसन्न चुनावों के कारण पारस्परिक समझ यह बना ली गयी कि भई, हमने हस्ताक्षर कर दिये हैं ; सब कुछ कार्यान्वित हो जायेगा। आप शीघ्रता मत कीजिए, तेजी से क्रियान्वयन की बात मत कीजिए। तेजी से क्रियान्वयन होगा तो हमारा भण्डाफोड़ होगा, और चुनाव में हमारी भी वही दशा होगी जो कनाडा के सत्तारूढ़ दल की हुई। चुनाव तक थोड़ा धैर्य रखिए, हम फिर से सत्ता में आ जायेंगे तो सारा क्रियान्वयन होगा, फिर कोई हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यह थी वह पारस्परिक समझ। किन्तु चुनाव में परिणाम दूसरे ही आये। उसके बाद क्या हुआ, आप जानते हैं। राजनीति मुझ से ज्यादा आप लोग ही जानते हैं। अनुबन्ध पर हस्ताक्षर हुए हैं और देश बेचा जा चुका है !

हस्ताक्षर करने वाले जो शासक थे वे आज सत्ता में नहीं हैं, किन्तु दूसरी जो बात स्थान-स्थान पर देखी गयी है वह यह है कि विदेशी पूँजी के हाथ बहुत लम्बे हैं। कौन-कौन खरीदे नहीं जायेंगे, इसकी सूची बनाना बहुत कठिन है। कितने सारे भ्रष्टाचार-काण्ड और घोटाले! आप पढ़ ही रहे हैं। निर्णय-प्रक्रिया से सम्बद्ध लोग खरीद लिये जाते हैं, नेता खरीद लिये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम खड़े हैं और इसमें से जो मार्ग निकालना है वह जनजागरण के भरोसे ही निकालना है। देशभक्त लोग एक मंच पर आकर इसका विरोध करेंगे, तभी इसका प्रतिकार हो सकेगा। तो जो पुरानी मिथ्या धारणाएं थीं, उनका मैंने केवल निर्देश किया। नया जो अभी मिथ्या प्रचार चल रहा है उसका मैंने उल्लेख नहीं किया, क्योंकि उसके विरुद्ध सारा प्रचार स्वदेशी जागरण मंच की ओर से चल रहा है। उसका पुनः-पुनः उच्चारण करके आपका समय नष्ट करने की मेरी इच्छा नहीं। किन्तु इस परिस्थिति में हम खड़े हैं। शेष भी जो राजनीतिक क्षेत्र में चल रहा है उसमें भी गड़बड़ है, यह सारे लोग जानते हैं, बताने की आवश्यकता नहीं। मैं तो राजनीति के बारे में ज्ञान रखता नहीं, किन्तु सभी जानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में किस प्रकार उथल-पुथल चल रही है।

अब इस परिस्थिति में स्वाभाविक विचार आता है कि ये जो इतनी चुनौतियाँ हैं, क्या इनके ऊपर कोई उपाय है? चुनौतियाँ तो बता दीं, रोग बता दिया, किन्तु उपचार क्या है? वैसे तो एक कहावत है कि रोग-निदान स्वयं ही आधी चिकित्सा है। किसी रोगी के रोग का सही निदान हो गया तो समझना चाहिए कि आधा रोग ठीक हो गया। पहले तो समस्या का निदान होना चाहिए। वह हो जायेगा तो उपाय

क्या हो, स्पष्ट ध्यान में आ जायेगा।

चर्चा संविधान की

अब हम देखें कि स्वतन्त्र होने के पश्चात् हमारे देश में संविधान आया। हम संविधान की चर्चा करते हैं तो कुछ लोग उसका विपर्यास करते हुए कहते हैं कि संविधान डॉ० अम्बेडकर जी ने बनाया, आप उनके विरुद्ध बोल रहे हैं। ऐसा नहीं है। डॉ० अम्बेडकर जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मैंने संविधान का प्रारूप तैयार किया, किन्तु सारा कुछ मेरे मन के अनुसार हुआ हो, ऐसा नहीं है। मुझे संविधान-सभा में विद्यमान सभी भिन्न-भिन्न धराओं को समाहित करना पड़ा। फिर उन्होंने यह भी कहा कि जिस उद्देश्य से संविधान बनाया है, यदि मुझे उन उद्देश्यों की पूर्ति होती नहीं दिखी तो संविधान की प्रति को चौराहे पर जलाने वाला मैं प्रथम व्यक्ति होऊंगा। यहाँ तक भी डॉ० अंबेडकर जी ने कहा है तो फिर संविधान के बारे में बोलना उनका अपमान या असम्मान करना नहीं है। हम उनका बड़ा सम्मान करते हैं।

अब संविधान के बारे में भी बहुत चर्चा हो गयी है। संक्षेप में कहना हो तो यही कहेंगे कि ब्रिटिश शैली का संविधान हमारे अनुकूल नहीं रहेगा। ऐसी चेतावनी यहाँ के उन विचारकों ने पहले से दी थी जिनका कोई व्यक्तिगत राजनीतिक स्वार्थ नहीं था। १९०८ में पू० महात्मा गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज्य' में कहा था कि यह ब्रिटिश पार्लियामेण्टरी प्रणाली हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। १९१४ में श्री अरविन्द ने कहा कि हमारे देश में एक ही प्रणाली काम कर सकती है और वह है—हितों की (संरक्षण करने वाली) सरकार। जो कार्य-व्यवसाय के प्रतिनिधित्व की बात बाद में आयी, वही है हितों की सरकार। १९२६ में जब चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य कारागार में थे, उन्होंने अपना आत्म-चरित्र लिखा जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह बहुमत और अल्पमत वाला लोकतन्त्र यदि भारत में आता है तो चुनाव के समय बहुत बड़ा भ्रष्टाचार होगा और फिर वह भ्रष्टाचार केवल चुनाव के समय तक सीमित नहीं रहेगा, बहुत फैलेगा।

शिक्षा से ही लोकतन्त्र संभव

स्वराज्य-प्राप्ति के कुछ दिन पहले मानवेन्द्र नाथ राय ने, जिन्होंने संसार भर के संविधानों का अध्ययन किया था, कहा कि यह जो ब्रिटिश संसदीय पद्धति है, यह उसी देश के लिए उपयुक्त है जहाँ जन-शिक्षा बहुत विस्तृत हो। जहाँ सार्वजनिक शिक्षा इतनी नहीं है, वहाँ यह काम नहीं कर सकती। तब उनके किसी शिष्य ने पूछा कि भारत करोड़ों लोगों का देश है, इनको साक्षर बनाना, सुशिक्षित बनाना

और फिर वे देश का कारोबार देखेंगे, इसमें तो बहुत समय लगेगा ! राय का कहना था कि लोकतन्त्र का अर्थ होता है—प्रत्येक नागरिक को राज्य के निर्णय लेने के कार्य में भाग लेने का अधिकार। केवल मतदान करना लोकतन्त्र का आशय नहीं है। निर्णय लेने में सहभागी बनने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। इस पर जब एक ने कहा कि करोड़ों लोगों को सुशिक्षित करने में समय कितना अधिक लगेगा, तो उनका उत्तर बड़ा अच्छा था जो हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बौद्धिक वर्ग में संघ के लिए भी उपयोग में लाते हैं। उन्होंने कहा कि "यह मार्ग लम्बा हो सकता है, किन्तु यदि यही एकमात्र मार्ग है तो सबसे छोटा मार्ग भी यही है।"

आज सार्वजनिक शिक्षा की क्या स्थिति है, हम जानते हैं।

जब संघीय (फेडरल) और एकात्मक (यूनिटरी) स्वरूप की चर्चा हुई तो उस समय प०पू० गुरुजी ने कहा कि राज्य की संघीय संरचना नहीं होनी चाहिए। डॉ० बाबासाहेब अम्बेडकर ने भी कहा कि यह संघीय संरचना (फेडरल स्ट्रक्चर) नहीं है। और उन्होंने कहा कि 'इण्डियन यूनियन' शब्द का प्रयोग मैंने जानबूझकर किया जिससे आने वाली पीढ़ियों में ऐसी भ्रान्ति न उत्पन्न हो कि यह राज्य-संघ (फेडरेशन) है। उसके बाद जब संविधान-सभा का काम चला तो संविधान के दोषों के बारे में डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, स्वयं डॉक्टर अम्बेडकर, सब लोगों ने स्थान-स्थान पर अपना असंतोष प्रकट किया था।

दलीय पद्धति अनुपयुक्त

फिर लोकनायक जयप्रकाश नारायण, विनोबाजी भावे, सोरोकिन, सोवेस्टिन तथा मानवेन्द्रनाथ राय ने यह प्रश्न खड़ा किया कि राजनीतिक दलों की प्रणाली लोकतन्त्र के लिए अनुकूल है क्या ? बड़ी चर्चा उन्होंने की है। राय की 'पार्टी, पावर एण्ड पॉलिटिक्स' (दल, सत्ता और राजनीति) नामक पुस्तक में यह चर्चा है कि क्या राजनीतिक दल लोकतन्त्र का उपकरण हो सकता है ? यही चर्चा जयप्रकाश नारायण ने अपने त्यागपत्र के समय की थी। उन्होंने कहा कि मैं प्रजा समाजवादी पार्टी (पी०एस०पी०) छोड़कर घर बैठा हूँ, इसलिए नहीं कि प्र०स०पा० के साथ मेरा मतभेद है। मुझे लगता है कि यहाँ (भारत में) राजनतिक दल एक संस्था के रूप में काम नहीं कर सकता। यही बात सोरोकिन और सोवेस्टिन ने अपने-अपने वक्तव्य में कही थी। वह भी चर्चा उस समय हुई। उन्होंने कहा कि दलरहित लोकतन्त्र आना चाहिए।

दल के साथ व्यवसाय का भी प्रतिनिधित्व

प०पू० श्री गुरुजी ने ठाणे में कुछ सुझाव दिये। उन्होंने कहा कि यह संविधान इस माटी की उपज—भारतभूमि का उत्पाद—नहीं है। किन्तु उसे पूर्णतः बदल देने के

लिए भी नहीं कहा। उन्होंने दो बातें कही थीं : एक तो यह कि कार्य-व्यवसायपरक प्रतिनिधित्व (Functional representation) क्षेत्रपरक प्रतिनिधित्व (territorial representation) के साथ-साथ आना चाहिए। उनका कहना था—'मैं आज यह नहीं कहता कि निर्वाचन-क्षेत्र के प्रतिनिधित्व के स्थान पर, उसके बदले, धन्धे-व्यवसाय का प्रतिनिधित्व ले आयें ; मैं तो यह कहता हूँ कि आज संसद् और विधानसभाओं की जो संरचना है, उसी में क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ व्यवसायों का प्रतिनिधित्व भी ला दिया जाये। उसके लिए क्या व्यवस्था करनी है, यह सर्वानुमति से निश्चित हो सकता है।

दूसरी बात श्री गुरुजी ने कही कि सबसे निचले स्तर की इकाई के चुनाव एकमत (सर्वसम्मति) से ही होने चाहिए। मुझे स्मरण होता है (एक चर्चा का) जब मैं ठाणे से वापस आया। संसद् में मैं उस समय कम्युनिस्ट सदस्यों के साथ ही अधिक बैठता था। एक तो वे केरल, बंगाल से ही थे। हमारे गृह-राज्य जैसे ही वे दोनों राज्य हैं। और फिर भाषा का भी प्रश्न था। इसके कारण बड़ा प्रेम था। सिद्धान्त के लिए हम झगड़ते थे, लेकिन आपस में हममें बहुत प्रेम भी था। हम एक-दूसरे की खिल्ली भी उड़ाते थे और चाय भी एक-दूसरे को पिलाते थे। तो उन्हें पता था कि मैं ठाणे गया था। हम आये तो उन्होंने पूछा कि गोलवलकर जी ने क्या कहा? मैंने बताया कि ये दो बातें कहीं। जब मैंने कहा—एकमत से चुनाव, तो एक सदस्य ने कटु शब्दों में इसे अबुद्धिमत्तापूर्ण बताया। यह 'प्रोग्रेसिव' लोगों की भाषा होती है। मैं समझ गया। मैंने इतना ही कहा कि आपका कहना ठीक हो सकता है, किन्तु आप भी अनुभवी हैं। एक बात मुझे स्मरण आ रही है, आपकी अनुमति हो तो मैं बताऊँ। बोले—क्या है? तो मैंने कहा कि मोहम्मद साहब के जीवन में उनको जो 'इलहाम' (रहस्य-ज्ञान, revelation) हुआ वह आयु के ४०वें वर्ष में हुआ। उसके बाद उन्होंने प्रचार का काम प्रारम्भ किया। उनके जीवन के अंतिम चरण में अरब में इस्लाम चारों ओर फैल गया था। वे बुड्ढे हो गये थे। ऐसे समय मक्का से बहुत दूर के एक गाँव में उनके ही अनुयायियों में विवाद खड़ा हुआ। एक वर्ग के लोग मक्का में आये मोहम्मद साहब को मिलने। उन्होंने विवाद का विषय बताया और कहा कि आप हमारे गाँव चलिए, क्योंकि आपके ही अनुयायियों में दो धड़े हो गये हैं। मोहम्मद साहब ने कहा—भई, मैं नहीं आऊंगा, क्योंकि एक तो मेरी उम्र बड़ी है और यातायात के साधन कम हैं। दूसरे, जहाँ दो विद्वान् निकट आते हैं मतभेद हो ही सकते हैं। इस्लाम इतना दूर-दूर फैल रहा है ; जहाँ-जहाँ मतभेद उभरते हैं वहाँ-वहाँ मैं जाकर उन्हें सुलझाऊँ, यह व्यावहारिक रूप में सम्भव ही नहीं है। मैं नहीं आ सकता। तब उन्होंने पूछा कि फिर निर्णय कैसे होगा? इस पर मोहम्मद साहब ने कहा कि आप सब गाँव वाले एक स्थान पर एकत्र होइए और एकमत से

अपने 'अमीर' का चुनाव कीजिए। अमीर अर्थात् मुखिया। अमीर का चुनाव हो जाये तो फिर आपके अमीर का जो निर्णय होगा वही मेरा निर्णय है, ऐसा समझें। लोगों ने कहा कि साहब, यही तो समस्या है। जहाँ दो गुट हैं, वहाँ एकमत से चुनाव कैसे हो सकता है? आप कम से कम चुनाव के लिए योग्यता तो बताइए। तो उन्होंने कहा कि जिस व्यक्ति को अमीर होने की बिल्कुल इच्छा न हो, उसी को अमीर बनाइए और जिस व्यक्ति की अमीर होने की इच्छा है, वह कितना भी योग्य हो, उसको बिल्कुल अमीर नहीं बनायें। ऐसी योग्यता मोहम्मद साहब ने बतायी। यह जो सुना तो हमारे कम्युनिस्ट सांसद कहने लगे—हाँ, इसमें सत्य का कुछ अंश है। हमने कहा कि मोहम्मद साहब ने बोला तो सत्य का अंश आ जाता है और एम०एस० गोलवलकर जी ने कहा तो अबुद्धिमत्तापूर्ण हो जाता है ! किन्तु यही इन अनुत्तरदायी प्रगतिवादियों की शैली है।

विकल्प—एकात्म मानव दर्शन

ऐसे कुछ सुझाव श्री गुरु जी ने दिये, किन्तु इससे भी पूरा समाधान होने वाला नहीं था। संविधान यही चलता रहे, कुछ सुझाव हम दें और थोड़ा-सा सुधार हो, ऐसे कामचलाऊ ढंग से स्थायी समाधान नहीं होने वाला। इसलिए पं. दीनदयाल जी से श्री गुरुजी ने कहा कि अपना विकल्प भी हम लोगों को प्रस्तुत करना चाहिए। तदनुसार दीनदयाल जी ने विचार करना प्रारम्भ किया और एकात्म शासन-प्रणाली की बात की। इस एकात्म शब्द का भाषान्तर करते समय मैं वहाँ था, उसमें बड़ी कठिनाई आयी। वास्तव में एकात्म का इंग्लिश रूपान्तर Integral होता है। एकात्म मानवदर्शन माने Intergral Humanism। परन्तु संसार के राजनीतिक क्षेत्र में संविधान के लिए दो ही शब्द प्रचलित थे—ऐकिक (Unitary) और संघीय (Federal)। यह एकात्म (Integral) शब्द नया होने से लोगों को जँचता नहीं था और समझ में भी नहीं आता था, इसलिए सामान्य जन की समझ के स्तर के साथ समझौता करते हुए वहाँ शब्द रखना पड़ा Unitary (ऐकिक)। वास्तव में एकात्म शासन-प्रणाली का अंग्रेजी में भाषान्तर होना चाहिए 'Integral form of Government'। जो भी हो, वह कितना विचारपूर्ण था इसका छोटा सा उदाहरण मैं आपको देना चाहता हूँ।

जनपदीय राज्य

अभी-अभी कुछ राजनीतिक दलों के सामने विचार आया कि पहले तो हमने भाषानुसार राज्य-रचना का समर्थन किया, किन्तु अब हमें बुद्धि आ गयी कि राज्य छोटे-छोटे होने चाहिए और हमें पश्चात्-बुद्धि हो रही है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि वे एकात्म शासन-प्रणाली की ओर देखते तो उनको पता चलता कि

आज जो कठिनाइयाँ आ रही हैं उनका पं० दीनदयाल जी ने पहले ही अनुमान कर लिया था और इसलिए उन्होंने कहा था कि शासन की आधारभूत इकाई का निर्धारण उसमें निवास करने वाले सभी लोगों की (सर्वनिष्ठ) स्थानीय विशेषताओं वाले क्षेत्र के रूप में होना चाहिए। समान भाषा भी जिनमें से एक हो। केवल भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण उचित नहीं। उन्होंने कहा कि परम्परा से हमारे यहाँ ५५ से ६० तक ऐसे सर्वनिष्ठ स्थानीय विशेषताओं वाले क्षेत्र थे जिन्हें जनपदों के रूप में इकाई मानकर हम चले थे। शायद अब भी हम उन्हें छाँट सकते हैं। उन्होंने छाँटना प्रारम्भ भी किया था, जैसे—महाराष्ट्र है, विदर्भ है, कोंकण है, कामदेश है। ऐसे ही मराठवाड़ा भी सर्वनिष्ठ स्थानीय विशेषता की एक इकाई है। गुजरात में दक्षिण-गुजरात, सौराष्ट्र, उत्तर गुजरात ऐसी अलग-अलग इकाइयाँ हैं। आंध्र प्रदेश में तेलंगाना, रायलसीमा की अलग स्थानीय विशेषताएं हैं। ये सभी जनपद हैं। बड़े राज्यों की सरकारें अपने छोटे भागों के विकास के लिए सतर्क नहीं रहतीं, इसके कारण वहाँ असंतोष फैलता है, यह तो बात ठीक है किन्तु जहाँ-जहाँ झगड़े खड़े हुए, आप एक-एक का उदाहरण देकर बताइए, मैं चुनौती के साथ कह सकता हूँ कि झगड़े या असन्तोष वाला ऐसा प्रत्येक क्षेत्र कोई न कोई पुराना जनपद था—उन्हीं जनपदों में से एक जिनकी पहचान पं० दीनदयाल उपाध्याय ने की थी, आप फिर उसको खालिस्तान कहिए, नागालैण्ड कहिए, मिजोरम कहिए, वनांचल कहिए, झारखण्ड कहिए, विदर्भ कहिए, तेलंगाना कहिए। जहाँ भी भाषावार बने प्रान्त से अलग होने के बात उठी, वह प्रत्येक क्षेत्र दीनदयाल जी द्वारा परिभाषित जनपद ही है। किन्तु क्या हुआ दीनदयाल जी के जाने के बाद? लोग बहुत शीघ्रता में रहते हैं न राजनीति में, इसलिए इस पर विचार करने की फुर्सत नहीं थी ! जैसे सुनिध ारित-सुपरिभाषित होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ। जो एक काम श्री गुरुजी के मन में था कि वैकल्पिक व्यवस्था का एक प्रारूप देना चाहिए, उससे इतना यह हुआ। अभी हमारे सामने समस्याएं हैं और ऐसा लगता है कि सारी अस्थिरता है।

राजसत्ता ही सब कुछ नहीं

संविधान इस भूमि की उपज नहीं है, इतना कहने से भी काम नहीं चलता। हमारी हिन्दुओं की व्यवस्था क्या है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है, आप सब जानते हैं। हमारे यहाँ सर्वोच्च धर्म है, राजा नहीं। राजदण्ड धर्मदण्ड के अन्तर्गत है। पश्चिम में सर्वोच्च प्राधिकारी राजसत्ता है। अपनी हिन्दु व्यवस्था छोड़ दीजिए क्योंकि हमें संकीर्ण पुरातनपन्थी, रूढ़िवादी कहा जाता है ! यही नहीं, पश्चिम से हमारे यहाँ एक दूसरी भ्रान्ति भी आयी है कि राजसत्ता सर्वोच्च है, तो इसलिए राजसत्ता सब कुछ कर सकती है। हम कुछ भी गड़बड़ करके एक बार शासन-सत्ता में आ जायेंगे

तो सबकुछ ठीक कर लेंगे, क्योंकि राजसत्ता सबकुछ कर सकती है। यह भ्रान्ति हमारे देश में बहुत बढ़ी है। ये नहीं समझते हैं कि यदि साधन-शुचिता नहीं रखी, अनुचित साधनों का प्रयोग करके यदि हम सत्ता प्राप्त करते हैं तो उसके द्वारा हम सही ध्येयसिद्धि नहीं कर सकेंगे। यह सोचने के लिए धैर्य की आवश्यकता है। आजकल सभी लोग बहुत शीघ्रता में हैं। कहाँ जाने की शीघ्रता में हैं, पता नहीं चलता ! जहाँ राजसत्ता को सर्वोच्च माना गया था, वहाँ भी अब एक नयी चर्चा प्रारम्भ हुई है। हमारे देश में यह चर्चा होने में पाँच वर्ष लगेंगे। दक्षिणपन्थियों और वामपन्थियों में अभी तक चर्चा का एक मुख्य बिन्दु यह था कि सरकार को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। कम्युनिस्टों का कहना है सरकार को सब कुछ करना चाहिए। पूँजीवादियों का कहना है कि सरकार को सथासम्भव कम से कम कार्य करने चाहिए। किन्तु दोनों विवाद करने वाले पक्ष मानते थे कि सरकार कर सब कुछ सकती है। अब नयी चर्चा प्रारम्भ हुई है, क्योंकि सरकार क्या करे और क्या न करे, यह विवाद ही अब निरर्थक हो गया है। सब कुछ सरकार को करना चाहिए, ऐसा भी सोचा तो क्या सरकार कर सकेगी ? अनेक कारणों से यह बात अब प्रकाश में आने लगी है कि सरकार सब कुछ कर ही नहीं सकती।

व्यवस्था-विज्ञान के सबसे प्रमुख प्रवक्ता पीटर ड्रकर ने यह विवाद पश्चिम में आरंभ किया है। इस पर चर्चा वहाँ चल रही है। हमारे देश में पश्चिम का पाँच वर्ष पूर्व का दिवास्वप्न ही देखा जा रहा है कि राजसत्ता में आ जायेंगे तो हम सब कुछ करेंगे !

संघ की भूमिका

दूसरी बात जिसकी चर्चा होती है यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अभी चुनाव में एकमात्र हिन्दुत्ववादी दल होने के कारण भाजपा का समर्थन किया। किन्तु रा०स्व०संघ के कार्य के स्वरूप और राजनीतिक दल के कार्य के स्वरूप के विषय में पहले से स्पष्ट धारणाएं थीं। राष्ट्रनीति, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और राजनीति के परस्पर-सम्बन्धों के विषय में यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं। मैं इतना ही कहूंगा कि प०पू० श्री गुरुजी के कुछ भाषण 'ध्येय-दर्शन' नामक पुस्तिका में संकलित हुए हैं। उसे आप पढ़ेंगे तो राष्ट्रनीति, संघ और राजनीति के परस्पर-सम्बन्धों का विश्लेषण आपके ध्यान में आयेगा। वह सारा विषय मैं यहाँ लेना नहीं चाहता। फिर संघ की कल्पना क्या है? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सम्पूर्ण हिन्दू समाज है, यह हम ध्यान में रखें। वैचारिक या भावनात्मक दृष्टि से संघ और समाज सम-व्याप्त हैं, सह-विस्तृत हैं—जहाँ तक समाज का विस्तार है वहाँ तक संघ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघ का तादात्म्य सम्पूर्ण समाज के साथ है। सारा समाज

ही उसकी अपनी पहचान है, उसकी अस्मिता है। अतः संघ कोई पंथ या सम्प्रदाय अथवा समाज का एक भाग नहीं है, वह तो सम्पूर्ण समाज ही है। संघ समाज के अन्दर किसी संगठन का निर्माण करना नहीं चाहता, वह तो सम्पूर्ण हिन्दु समाज को ही संगठित करना चाहता है।

यह संघ की प्रमुख भूमिका है। इसी के अनुसार पहले से काम चला। फिर भी, राजनीतिक प्रश्नों का, राजनीति के क्षेत्र का कुछ महत्त्व है और इसके कारण जब भलाई होती है तब चिन्ता करने की बात नहीं। जब संकट उत्पन्न होता है तब राष्ट्रहित के नाते चिन्ता करनी पड़ती है। प० पू० डॉक्टर जी के जीवनकाल में भी ऐसा एक प्रसंग आया जब संघ की सम्पूर्ण समाजव्यापी भूमिका अर्थात् संघ सम्पूर्ण समाज है, अपनी यह व्यापक भूमिका रखते हुए राजनीतिक क्षेत्र के बारे में सोचने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उस समय रैमसे मैक्डोनॉल्ड ने भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट)–१९३५ के अंतर्गत साम्प्रदायिक निर्णय दिया था। निर्णय क्या था, वह सारा नहीं बताता, पढ़ लीजिए; किन्तु परिस्थिति क्या थी, यह बताता हूँ। अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवॉर्ड) क्या दिया कि गांधी जी की और कांग्रेस की स्थिति बड़ी विडम्बनापूर्ण हो गयी। वह निर्णय स्पष्ट रूप से इतना राष्ट्रविरोधी था कि उसको स्वीकार करना संभव नहीं था। किन्तु कांग्रेस को लगा कि यदि उसने कहा इसको हम अस्वीकार करते हैं तो मुसलमान अप्रसन्न हो जायेंगे। इसलिए कांग्रेस ने चुनाव के समय यह नीति अपनायी कि वह साम्प्रदायिक निर्णय को न तो स्वीकार करती है, न अस्वीकार। हमारे डॉ० मुंजे भाषणों में कहते थे कि "न स्वीकार न अस्वीकार का अर्थ क्या है? आपके घर में चोर घुस गया है। हम पूछते हैं–'आपकी नीति क्या है?' आप कहते हैं–'हम उसका स्वागत भी नहीं करते और उसको बाहर भी नहीं निकालते'।" ऐसी जब बात आयी तब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों ने राष्ट्रवादी होने के कारण, उस समय जो श्री मालवीय की कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी थी और हिन्दू महासभा थी, उनका काम खुलेआम किया–स्वयंसेवकों ने व्यक्तिगत रूप से किया; संघ ने संघ के नाम से कोई वक्तव्य नहीं दिया। उसके बाद स्वयंसेवकों का काम आदि देखकर नेता लोग प्रसन्न हो गये। उनको लगा कि अच्छे 'वालिण्टियर कोर' के लोग हैं। उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि आप हमारे स्वयंसेवक बन जायें। आपको समझ तो कुछ है नहीं। हम नेता हैं, हम आपको बतायेंगे। आप हमारे मार्गदर्शन में चलें। तो संघ के स्वयंसेवकों ने कहा कि हम आपको अपना नेता मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारा संघ राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं रह सकता। एक विशेष परिस्थिति में एक विशेष समस्या को लेकर हमने काम किया है; किन्तु संघ का अर्थ–सम्पूर्ण हिन्दू समाज, यह भूमिका रखी गयी है।

पहले चुनाव के समय, जनसंघ की स्थापना होने के पश्चात्, पू० पू० श्रीगुरुजी द्वारा मतदाताओं का मार्गदर्शन करने वाला एक वक्तव्य 'आर्गनाइजर' में प्रकाशित हुआ था, वह सबके पढ़ने योग्य है। वैसे ही पिछले चुनाव के समय हमारे सरकार्यवाह मा० शेषाद्रिजी ने चुनाव के पूर्व एक परिपत्र (सर्कुलर) दिया था। चुनाव के बाद भी एक परिपत्र दिया। यह भूमिका, श्री गुरुजी की भूमिका, और डॉ० जी के समय की भूमिका समान हैं। इस से स्पष्ट होता है कि संघ राष्ट्रनीति में है, राजनीति में नहीं है। जब राजनीति का काम राष्ट्रनीति में बाधा डालना हो जाता है तब फिर विवशता में तात्कालिक रूप से यह कार्य हमारे स्वयंसेवक करते हैं। किन्तु जैसे हिन्दु महासभा के लोगों ने कहा कि हम नेता हैं, तुमको क्या समझ है! डाक्टर जी की मृत्यु के बाद तो उनका दुस्साहसपूर्ण उत्साह इतना बढ़ा था कि उन्होंने कहा–'यह एम०एस० गोलवलकर कौन है? कल का लड़का है। हम तो परम्परागत नेता हैं। हमारी एक समिति बनाओ, हम संघ का मार्गदर्शन करेंगे।' यहाँ तक उनकी धृष्टता बढ़ गयी थी ! किन्तु संघ ने यह बात स्वीकार नहीं की। यह जो आत्म-मर्यादा है, जो लक्ष्मण-रेखा है, इस रेखा को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

यह सब हुआ, किन्तु परिस्थिति का निदान आज क्या है? सुसंगठित हिन्दू समाज-रचना जब आयेगी तब आयेगी, जब सुपरिभाषित होगी तब होगी, उसको लाने में अभी समय लगेगा। आज तत्काल जो समस्या है वह क्या है? यह तो खोजना चाहिए। बहुत से लोगों को ऐसा लगता है कि ठीक है, हमारा संविधान इस भूमि की उपज नहीं है, हमने इंग्लैण्ड की नकल की है। किन्तु इंग्लैण्ड की नकल भी हम ठीक ढंग से नहीं कर सकते, वह संभव नहीं है–यह लोगों की दृष्टि में, उनके ध्यान में नहीं आ रहा। लोग ऊपर-ऊपर से देखते हैं। वे कहते हैं कि जैसी इंग्लैण्ड में रचना है, वैसी यहाँ है। इंग्लैंड में आदर्श मताधिकार है, वह हमारे यहाँ भी है। इंग्लैण्ड में महिलाओं को मतदान का अधिकार है, वह हमारे यहाँ है। वहाँ पार्लियामेंट है तो हमारे यहाँ भी संसद् है। संसदीय प्रक्रिया जैसी वहाँ है, वैसी यहाँ है। तो इंग्लैण्ड में जैसे परिणाम मिलते हैं वैसे परिणाम हमारे यहाँ क्यों नहीं मिलते? इंग्लैंड के लोग भी यह नहीं कहते कि यह शासन का सर्वश्रेष्ठ प्रकार है। वे कहते हैं–यह सबसे कम दोषपूर्ण शासन है तो फिर इंग्लैंड जैसे परिणाम हमारे यहाँ क्यों नहीं मिलेंगे? नेता लोग भी यही कहते हैं। हमको आश्चर्य होता है। उन्होंने सोचा है क्या कि वहाँ की सारी संरचना कितने दीर्घ ऐतिहासिक घटनाक्रम में से निर्मित होकर आयी है और हमारे यहाँ किस ऐतिहासिक घटना-प्रवाह में से आयी है? वहाँ राजा ही सर्वोच्च था। फिर लोग उसके विरुद्ध असंतोष प्रकट करने लगे। तत्पश्चात् दो हित-समूह थोड़े जागृत हुए। उन्होंने कुछ आग्रह करना प्रारंभ किया। तब ११वीं शताब्दी के हेनरी प्रथम ने राज-परिषद् (किंग्स काउंसिल) एक संस्था के रूप में

बनायी। उस समय 'पार्लियामेण्ट' शब्द प्रचलित नहीं था, किन्तु एक संस्था के नाते इसे हम पार्लियामेण्ट का आरंभ कह सकते हैं। वहाँ १२१५ ई. में एक ऐतिहासिक घटना हुई जिसे कहते हैं मैग्नाचार्टा। किंग जॉन ने Magnacharta (मैग्नाचार्टा) पर हस्ताक्षर किये और तब तक जो नये समूह सामने आये थे उनके भी कुछ प्रतिनिधियों को लेकर उन्होंने 'किंग्स काउंसिल' (राजा की परिषद्) की संख्या बढ़ायी और उसको 'पार्लियामेण्ट' (संसद्) संज्ञा दी गयी। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी में 'पार्लियामेण्ट' शब्द आया । राज-परिषद् (किंग्स काउंसिल) बड़ी बनी तो भी राजा (मोनार्क) ही सर्वोच्च था। संसद् (पार्लियामेण्ट) केवल परामर्शदात्री और संस्तुतिकर्त्री के रूप में थी। पार्लियामेंट को सर्वोच्च प्राधिकारी का रूप प्राप्त होने में चार शताब्दियाँ लगीं। १६८८ की जिस क्रांति को वे ब्रिटेन की भव्य गौरवमयी क्रान्ति कहते हैं। उसके पश्चात् यह दृढ़ता से स्थापित हुआ कि पार्लियामेंट (संसद्) सर्वोच्च है और राजा (मोनार्क) संसद् के अन्तर्गत रहेगा। ४ शताब्दी के बाद उसकी सर्वोच्चता स्थापित हुई। तब भी मतदान का अधिकार कितने लोगों को था? बहुत थोड़े प्रतिशत को। १८३२ में उन्होंने एक अधिनियम पारित किया जिसे लोकतन्त्र की दिशा में लम्बी छलांग (Long leap in the direction of democracy) कहा गया है और उसमें जिन्हें पहले प्रतिनिधित्व मिलता था उनके साथ-साथ उन्हें भी मताधिकार दिया गया जो एक विशेष मूल्य से ऊपर के भवन के स्वामी थे या किराये पर लिये हुए थे। १८३२ के इस बड़े संघर्ष की लम्बी छलांग के पश्चात् भी समस्त जनता के केवल दस प्रतिशत (१०%) को ही मताधिकार मिला। उसके बाद १८६७, १८८२, १९१८ और १९२८-२९ में विधान पारित होकर वयस्क मताधिकार सब को मिला। हमारे यहाँ महिलाओं को मताधिकार मिला है, वह उचित ही है। वयस्क मताधिकार भी ठीक है। किन्तु वहाँ और यहाँ के ऐतिहासिक घटना-प्रवाह में अन्तर क्या है देखिए। वहाँ १२१५ में मैग्नाचार्टा हुआ और पार्लियामेण्ट में महिलाओं को मतदान का अधिकार १९१८ में मिला—सात शताब्दियों के बाद। इस सारे कालान्तराल में अलग-अलग हित-समूह संगठित होते रहे, संघर्ष करते रहे। १३वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक ७०० वर्षों के संघर्ष के पश्चात् वयस्क मताधिकार वहाँ आया। और जहाँ संघर्ष चलता है वहाँ लोक-शिक्षा भी होती है। एक संस्कार भी संघर्ष के कारण होता है। एक मानसिकता तैयार होती है। वह उनकी स्थिति थी। हमारे यहाँ क्या हुआ? यह संसदीय चुनाव की प्रणाली मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड समझौते के फलस्वरूप यहाँ १९२० में आयी। उस समय भारतवर्ष की जनसंख्या २४ करोड़ थी। और संविधान के अन्तर्गत कितने लोगों को मताधिकार था? वह द्विस्तरीय राज्य-व्यवस्था थी ; राज्य-परिषद् (काउन्सिल ऑफ स्टेट) के लिए १७००० लोगों को और राष्ट्रीय धारा-सभा (नेशनल असेम्बली) के लिए

९०,९००० लोगों को मताधिकार मिला। और १९५० में करोड़ों लोगों को मताधिकार मिल गया। क्या संघर्ष के कारण होने वाले संस्कार, संघर्ष के कारण मिलने वाली राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा के कारण दोनों में अन्तर नहीं रहेगा? वहाँ ७०० वर्ष संघर्ष के कारण राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा हुई, संस्कार हुए, एक मानसिकता तैयार हुई। यहाँ तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई परिश्रमी स्वयंनिर्मित (सेल्फ-मेड) व्यक्ति अपने कठिन प्रयत्नों से गरीबी में से ऊपर आता है, एक-एक पैसे की बचत करके वह श्रीमान् बनता है और अपने बंगले तथा मोटर कार इत्यादि लेता है, तो उसे पैसे का महत्त्व पता रहता है। उसका पुत्र जो मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर जन्मा है, उसको कष्ट ही नहीं करने पड़ते । तो उसकी मानसिकता और उसके पिताजी की मानसिकता में जैसा अन्तर होता है वैसा ही अन्तर वहाँ की और यहाँ की व्यवस्था में है, यद्यपि व्यवस्था समान दिखती है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि वयस्क-मताधिकार नहीं होना चाहिए, वरन् यह है कि जन-शिक्षा, सार्वजनिक शिक्षा, जिसकी अपरिहार्यता एम. एन. राय ने स्वीकार की थी, वह अधिक से अधिक कैसे बढ़े, उसकी व्यवस्था करना अवश्यक है। शिक्षा माने एम. ए., बी. ए., बी. एस सी. नहीं है। राजनीतिक शिक्षा भी ज्यादा से ज्यादा कैसे बढ़ेगी, इसकी चिन्ता करनी चाहिए। नेता लोग चिन्ता नहीं करने देते, क्योंकि उन्हें लगता है कि यदि लोग ही शिक्षित हो जायेंगे तो हमारी नेतागिरी का क्या होगा ? इसलिए प्रचार होता है, शिक्षा नहीं होती। प्रचार का अर्थ होता है—'आत्मस्तुति, परनिन्दा'। हम अच्छे हैं, अन्य सब लोग खराब हैं। इससे काम नहीं चलेगा। वयस्क-मताधिकार को यशस्वी करना है तो जन-शिक्षा पूरी होनी चाहिए।

किन्तु मानवेन्द्रनाथ राय अधिक दूर तक नहीं गये। उनकी कही हुई जन-शिक्षा की बात ठीक है, किन्तु उससे आगे वे नहीं जा सके। इसका कारण यह है कि अपने जीवन-काल में उनको पूरा अनुभव नहीं आया था। सभी का अनुभव है, हमारे देश का भी अनुभव है कि केवल शिक्षा के द्वारा उत्तरदायी लोग निर्मित होंगे इसकी कोई गारण्टी नहीं है। हमारे यहाँ एक अच्छा उदाहरण घटित हुआ। 'रालेगण सिन्दी' के अण्णा साहब हजारे का नाम सबने सुना है। उन्होंने एक अच्छा काम किया। उसे देखने के लिए पूना के कुछ प्रगतिशील समाजवादी नेता लोग गये। उनको यह देखकर धक्का लगा कि अण्णा साहब हजारे का मुख्यालय एक मन्दिर में था, जहाँ वे भजन-पूजन इत्यादि कर रहे थे। वहीं वे लोगों को इकट्ठा करते थे। उस मन्दिर का एक भाग कुछ टूट गया था, लोगों को इकट्ठा कर उसके जीर्णोद्धार का काम उन्होंने प्रारम्भ किया हुआ था और उसके लिए ३०-४० हजार रुपये इकट्ठा करने का कार्यक्रम चल रहा था। अण्णा साहब ने उनके साथ अपने व्यक्ति देकर सारा गाँव देखने के लिए भेजा। सारा देखकर आये, फिर चर्चा के लिए चाय पर बैठे। एक

प्रगतिशील समाजवादी नेता ने कहा कि 'अण्णा साहब ! आपका सारा प्रयास अच्छा है। हम इससे प्रभावित हुए हैं। पर एक बात नहीं जँची। आप लोगों में अंधविश्वास फैला रहे हैं। आप मन्दिर में प्रधान कार्यालय रखते हैं तो लोग अंधविश्वासी हो जायेंगे। और उससे भी बड़ा व्यावहारिक प्रश्न यह है कि मन्दिर के नवीकरण के लिए जो पैसा खर्च कर रहे हैं उतने में तो एक-दो कमरे बन सकते हैं, जहाँ प्राथमिक विद्यालय की दो कक्षाएँ लग सकती हैं।' अण्णा साहब कुछ बोले नहीं। चाय होने के बाद उन्होंने कहा कि आपने सारा तो देखा, लेकिन हमारा फलों का उद्यान नहीं देखा। नेता लोग बोले—'हाँ वह नहीं देखा'। तो एक व्यक्ति को साथ में भेजकर कहा कि फलों का बाग देखकर आइए। काफी बड़ा बाग था, उसे देखकर वापस आये तो बोले कि 'हाँ, बहुत अच्छा है। आपने नये-नये प्रयोग किये हैं। और फल बहुत अच्छे निकले होंगे', इत्यादि। तब अण्णा साहब ने पूछा कि वहाँ कुछ ध्यान में लेने योग्य बात आपकी दृष्टि में आयी क्या ? नेता बोले—'क्या' ? अण्णा ने कहा—'वह फलों का बाग है। अच्छे-अच्छे फल लगे हैं। कुछ फल पक गये, वे नीचे गिरने की अवस्था में हैं। कुछ फल ऐसे हैं जो अभी टिक जायेंगे। और सारे फलोद्यान में एक भी रखवाला नहीं है, चौकीदार नहीं है। आपको ज्ञात होगा कि हमारा यह गाँव चोर, डकैत, अपराधकर्मी लोगों का गाँव था। ऐसे गाँव में पूरे फलोद्यान का कोई रखवाला नहीं । यह आपने देखा क्या ?' बोले—'हाँ, ऐसा तो है।' 'तो यह क्यों हुआ, आपके ध्यान में आया ? आपने कहा कि प्राथमिक पाठशाला की दो कक्षाएं यहाँ चल सकती हैं, मन्दिर का पुनर्निर्माण किसलिए कर रहे हैं ? शिक्षा का महत्त्व है। मैं भी शिक्षा दे रहा हूँ। किन्तु मैं पूछता हूँ कि शिक्षा के कारण अच्छे मनुष्य का निर्माण होगा, इसकी गारण्टी है क्या ?' उन दिनों पूना में जोशी-अभ्यंकर हत्याकाण्ड हुए थे और उस हत्याकाण्ड में हत्या करने वाले चार-पाँच विद्यार्थी थे जो सुखी-सम्पन्न, शिक्षित परिवारों के थे, श्रीमान् परिवारों के 'ग्रेजुएट' थे। उन्होंने टी. वी. और सिनेमा देखकर केवल मनोविनोद या 'शौक' के लिए १० हत्याकाण्ड पूना में किये थे। तो अण्णा हजारे बोले—"आपके यहाँ के सुशिक्षित, उपाधि-प्राप्त स्नातक (ग्रेजुएट) ऐसी हत्याएं कर सकते हैं। परन्तु हमारा गाँव जो चोरों और डकैतों के लिए कुख्यात था, यहाँ एक फल की भी चोरी नहीं होती, यह मन्दिर का प्रभाव है। शिक्षा से यह संस्कार नहीं हो सकता, मन्दिर के कारण ही ऐसा संस्कार हो सकता है।" 'प्रगतिशील' लोगों को कैसा लगा होगा, पता नहीं। किन्तु शिक्षा और संस्कार में अन्तर है। शिक्षा में महान् सन्त भी निर्मित हो सकते हैं और माइकल जैक्सन तथा कैसनवाल का भी निर्माण हो सकता है। अतः संस्कार ही महत्त्व की बात है।

इस समय मुझे एक स्मरण आ रहा है और उसी से मैं समापन कर रहा हूँ। मैंने कहा कि प०पू० डाक्टर जी जन्मजात देशभक्त थे। अपने समकालीन राजनीतिक,

अराजनीतिक, सभी कार्यों में उन्होंने भाग लिया था। सभी देशी-विदेशी विचार-धाराओं से उनका परिचय था। किन्तु हर समय उनके मन में कुछ अस्वस्थता रहती थी। डाक्टर जी की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के क्रांतिकारी, अनुशीलन समिति के ज्येष्ठ नेता त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती महाराज जी ने एक वक्तव्य दिया था। उन्होंने कहा कि आपके केशवराव ने संघ की स्थापना तो १९२५ में की, लेकिन मुझे लगता है कि ऐसे किसी न किसी कार्य को प्रारम्भ करने का विचार बहुत वर्षों से उनके मन में चलता होगा क्योंकि आपके डाक्टर जी क्रांन्तिकार्य के लिए जब हमारे बंगाल में थे तो मुझे मिलते थे और कहते थे कि महाराज जी, हम स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं, यह तो ठीक है ; स्वाभिमानी राष्ट्र के स्वाभिमान की यह माँग है कि हम स्वराज्य के लिए सारे प्रयत्न करें ; किन्तु हमारे राजनेता जो एक बात जनता को बता रहे हैं कि एक बार स्वराज्य हाथ में आने दीजिए, एक बार राजसत्ता हाथ में आने दीजिए, सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा, सभी समस्याएँ सुलझ जायेंगी, प्रगति के मार्ग प्रशस्त हो जायेंगे, यह मुझे नही जँचता। मुझे लगता है कि जब तक भारत का प्रत्येक नागरिक राष्ट्रभक्त नहीं होता, उसकी राष्ट्रीय चेतना का स्तर ऊँचा नहीं होता और ऐसे लोगों का संगठन खड़ा नहीं होता, तब तक राष्ट्र को कोई आशा नहीं है। केवल राज्यसत्ता के भरोसे यह नहीं हो सकता। और इसलिए जब ध्येय बताने का काम पड़ा, उस समय भी डाक्टर जी ने द्वि-नाभिकीय दृष्टि का परिचय दिया। द्वि-नाभिकीय दृष्टि (bi-focal vision) में नीचे से निकट का दिखता है और ऊपर से दूर का दिखता है। नीचे से उन्होंने तात्कालिक लक्ष्य लिया स्वराज्य–हिन्दुराष्ट्र के स्वराज्य का, जो तुरन्त प्राप्त होना चाहिए, शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त होना चाहिए, 'याचि देही याचि डोला' प्राप्त होना चाहिए। किन्तु ऊपर से उन्होंने देखा 'परम् वैभवम्' ; यह लम्बी दूरी की दृष्टि थी। अतः डाक्टर जी ने कहा कि ये जो नेता कह रहे हैं कि राज्यसत्ता प्राप्त होते ही सारा हो जायेगा, मुझे जँचता नहीं। जब तक प्रत्येक नागरिक राष्ट्रभक्त–राष्ट्रीय चेतना से युक्त–होकर संगठित नहीं होता, देश के लिए कोई भवितव्य नहीं। आज जन-शिक्षण का अभाव तो है ही, इंग्लैण्ड का और हमारा ऐतिहासिक घटना-प्रवाह भी अलग-अलग है। किन्तु सबसे महत्त्व की बात यह है कि नेतृत्व करने वाले सुशिक्षित लोगों का व्यवहार कैसा है। आप देख रहे हैं, क्या हो रहा है ! इसका कारण यह है कि उच्च शिक्षा लिये हुए किन्तु नीच संस्कार प्राप्त किये हुए लोग नेतृत्व कर रहे हैं। राष्ट्र-समर्पण के संस्कार जब तक नहीं आते, सर्वसामान्य जनता राष्ट्र के प्रति समर्पण के भाव से संस्कारित नहीं होती, उसका संगठन नहीं होता, तब तक केवल राज्यकर्ताओं के भरोसे देश को छोड़ना निरापद नहीं है। जब लोकशक्ति का, जनशक्ति का दबाव राज्य-शक्ति पर रहेगा, तभी राज्यशक्ति के ठीक चलने की गारण्टी हो सकती है। धर्मदण्ड रहेगा

तब तो राजदण्ड ठीक रहेगा। लेकिन यदि जनता में जागृति नहीं, राष्ट्रीय चेतना का स्तर नहीं, दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ यदि दुर्बल है, तो फिर राजसत्ता ठीक चलेगी इसकी कोई गारण्टी नहीं। मैं यह कह सकता हूँ कि राजशक्ति पर लोकशक्ति का दबाव आवश्यक है। राजसत्ता हाथी के समान है, उसे चलाने के लिए लोकशक्ति रूपी अंकुश की आवश्यकता है। हमारी परम्परा में जब राजसत्ता रूपी हाथी गड़बड़ करता था तब समाज के नैतिक नेता हाथी के गण्डस्थल पर बैठकर जनसंगठन रूपी अंकुश का प्रयोग करते थे। आज हमारे जनसंगठन सबल-सुदृढ़ नहीं हैं। नैतिक नेता तो हैं, अकेले-अकेले, किन्तु सामूहिक नैतिक नेतृत्व विकसित नहीं हुआ। जब तक जनशक्ति अर्थात् धरती पर संघ की शक्ति इतनी पर्याप्त नहीं होती कि कोई भी दल सत्ता में आ जाय, नक्सलपन्थी भी यदि सत्ता में आ जायें तो कोई भी राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने से पूर्व नक्सलाइट प्रधानमन्त्री को झक मारकर डॉ. हेडगेवार भवन में आना पड़े, तब तक हम प्रयोग करें ठीक ही है, किन्तु कोई विशेष परिणामकारी परिवर्तन होने वाला नहीं। तब तक चुनावों में खराब लोग आने के बजाय अपने लोग आने चाहिए। भाजपा के बारे में हम स्पष्ट रूप से बोल ही रहे हैं कि यही एकमात्र हिन्दुत्ववादी दल है। जनता पार्टी को छोड़कर हमारे स्वयंसेवक संघ के लिए ही बाहर आये, हम जानते हैं। हमारा-उनका संवाद अच्छा है। किन्तु केवल इतने से काम नहीं होता।

अब चर्चा होती है कि भाजपा का काम कैसे बढ़े ? हमारी भी चिन्ता है। किन्तु सारी चर्चा जहाँ-जहाँ हम सुनते हैं केवल इतनी ही सुनते हैं कि भाजपा का वोट कैसे बढ़ेगा ? भाजपा के लोग सत्ता में कैसे आयेंगे ? क्या इतना पर्याप्त है ? सत्ता में आने के लिए, सत्ता को स्थिर रखने के लिए, सत्ता का उपयोग परम वैभव-हेतु करने के लिए जो क्षमता चाहिए वह क्षमता कैसे आयेगी, इसका विचार ही नहीं हो रहा है। हमारे हाथ में सत्ता आ जायेगी तो सब कुछ हो जायेगा ! मैं यह कहूंगा कि जहाँ भाजपा को सत्ता में लाने का विचार चलता है वहाँ सत्ता में आकर ठीक काम करने की क्षमता भी भाजपा में निर्मित हो, यह भी चिन्ता करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से क्या-क्या करना चाहिए, इसका सविस्तार वर्णन न करते हुए मैं यह कहूंगा कि पिछले रविवार के 'तरुण भारत' में नागपुर के और शायद आज के भी 'तरुण भारत' में हमारे प्रचार-प्रसार-प्रमुख मा०बापूराव जी वैद्य के जो लेख आये हैं वे प्रत्येक को पढ़ने चाहिए। उससे उनको पता चलेगा कि भा०ज०पा० को जैसे-तैसे, कूटनीतिक हथकण्डे, तिकड़मबाजी से सत्ता में लाने के पीछे हम नहीं हैं, क्योंकि अपवित्र साधनों के द्वारा पवित्र ध्येय सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए मैंने कहा कि यदि संघ की शक्ति बढ़ती है, क्योंकि वह संस्कार है, तो नक्सलवादी प्रधानमन्त्री होगा तो भी उसे हेडगेवार भवन में आना पड़ेगा और संघ की शक्ति नहीं हुई तथा

मैं प्रधानमंत्री बनता हूँ तो मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि मैं अवश्य भ्रष्टाचार करूंगा, क्योंकि आपकी शक्ति क्या है ? आप मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं ? तो भरोसे की बात यदि कोई है तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शक्ति ही है। और इस दृष्टि से राजनीतिक दल, भारतीय मजदूर संघ, विद्यार्थी परिषद्, और भी जिन-जिन संस्थाओं में हमारे स्वयंसेवक काम कर रहे हैं उनका समर्थन करना चाहिए, किन्तु इन संस्थाओं और संघ के काम में जो अन्तर है उसे अवश्य समझना चाहिए। फोड़े-फुन्सी होते हैं और सहन नहीं होता तो हमलोग मरहम-पट्टी करते हैं। मरहम-पट्टी करना आवश्यक है। नहीं करेंगे तो बड़ी पीड़ा होगी। किन्तु एक स्थान पर फोड़ा आया, मरहम-पट्टी की, वह अभी ठीक भी नहीं होता कि और चार स्थानों पर फोड़े हो जाते हैं तथा उन चार स्थानों के ठीक होने से पूर्व ही चालीस स्थानों पर होते हैं तो सोचना पड़ता है कि मूल कारण क्या है ? केवल मरहम-पट्टी से रोग दूर नहीं होता। यदि मूल कारण रक्त-दोष है तो उसका औषधोपचार करना पड़ता है और उसकी चिकित्सा करने में समय लगता है। तब तक तात्कालिक उपचार के लिए मरहम-पट्टी करना आवश्यक है। वैसे ही, केवल राजनीतिक दल ही नहीं, हमारी जो अन्यान्य संस्थाएं भी हैं उनके काम का महत्त्व मरहम-पट्टी करने जैसा है। किन्तु रक्त-दोष दूर करना माने सम्पूर्ण राष्ट्र को नीरोग करना है। उसके लिए राष्ट्र के प्रति समर्पण के संस्कार और सांसारिक लोगों का अर्थात् स्वयंसेवकों का संगठन ही वास्तव में मूल चिकित्सा है। यह मूल चिकित्सा करने में समय लगता है, परिश्रम लगता है। भारतीय मजदूर संघ कैसे बढ़ेगा, भाजपा कैसे बढ़ेगी, यह मरहम पट्टी अवश्य करें। किन्तु समझना चाहिए कि रक्तदोष को दूर करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शक्ति बढ़ाना आवश्यक है जिसकी कार्यपद्धति का केन्द्र-बिन्दु शाखा है। शाखा, शाखा, शाखा..... वह कैसे सबल होगी ? इसी में से राष्ट्र का पुनरुद्धार होना है। डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि संविधान के आधार पर, विधि के आधार पर कोई भी राज्य ठीक ढंग से नहीं चल सकता। उन्होंने कहा कि सांविधानिक नैतिकता यदि लोगों में होगी, तभी संविधान भी ठीक चल सकता है। इस सांविधानिक नैतिकता का आधार सामान्य नैतिकता है जो संस्कारों से आती है। मौलिक (आधारभूत) काम जो होगा – शाखा, सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक-संगठन, यही मूलभूत काम हैं। इधर यदि हमारा ध्यान नहीं रहता तो आप मरहम-पट्टी जीवन भर करते रहिए, मार्ग निकलने वाला नहीं है।

❋

चिर-पुरातन, नित्य-नूतन

(वर्ष-प्रतिपदा उत्सव के अवसर पर सिरसा में मा० दत्तोपन्त जी ठेंगड़ी का बौद्धिक वर्ग,२४ मार्च १९८५)

हम जानते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यपद्धति का एक भाग हमारे छः उत्सव हैं। संघ की कार्यपद्धति के दो भाग हैं – एक नित्य और दूसरा नैमित्तिक। दिन-प्रतिदिन का एकत्रीकरण नित्य-पद्धति का केंद्र-बिंदु है। प्रति दिन सब एकत्र आयें, सामूहिक कार्यक्रम करें। सामूहिक अर्थात् समष्टिगत कार्यक्रम के माध्यम से समष्टिगत मन का निर्माण होता है, मनोविज्ञान के इस सिद्धांत के आधार पर सामूहिक कार्यक्रम करें और सम्पूर्ण समाज के साथ एकात्मता का संस्कार अपने हृदय पर अंकित करें, यह है नित्य कार्यक्रम।

नैमित्तिक कार्यक्रम दो प्रकार के हैं : (१) नियमित रूप से आने वाले नैमित्तिक कार्यक्रम , (२) अनियमित रूप से आने वाले नैमित्तिक कार्यक्रम। अनियमित रूप से तो अनेक कार्यक्रम आते ही रहते हैं। हम सब कार्यकर्ता जानते हैं कि कहीं बैठकें होती हैं, कहीं ट्रिप्स होती हैं, भाँति-भाँति के कार्यक्रम होते हैं। ये अनियमित रूप से आने वाले नैमित्तिक कार्यक्रम बहुत हैं और नियमित नैमित्तिक कार्यक्रम हैं ६ उत्सव।

संपूर्ण कार्यपद्धति का लक्ष्य है हर एक व्यक्ति के हृदय पर संस्कार देना कि मैं अकेला नहीं, पृथक् नहीं, संपूर्ण समाज के साथ एकात्म हूँ। मनुष्य के शरीर और उसके एक-एक अवयव का जो संबंध होता है, वही संपूर्ण समाज और एक-एक व्यक्ति का संबंध है। इसी दृष्टि से संपूर्ण समाज के साथ एकात्मता का संस्कार हर हृदय पर अंकित करने के लिए सभी कार्यक्रमों और कार्यपद्धति की रचना है।

संघ की धारणा है कि संघ कोई संस्था नहीं है, दल नहीं , पंथ नहीं, संप्रदाय नहीं है, हिन्दुसमाज के अन्तर्गत खड़ा किया हुआ संगठन भी नहीं है। संघ संपूर्ण हिन्दु समाज को ही सुसंगठित अवस्था में लाना चाहता है। परिकल्पना की दृष्टि से संघ और समाज समव्याप्त हैं ; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघ संपूर्ण समाज के साथ एकात्म है। इसलिए अन्य लोगों के जैसे संस्थागत उत्सव होते हैं, दलगत उत्सव होते हैं, वैसा संघ के लिए संभव नहीं। जो कुछ भी संघ का है, हिन्दु समाज का है, हिन्दु राष्ट्र का है। संघ का ध्वज कौन सा है ? वही जो हिन्दु राष्ट्र का परंपरागत ध्वज है। संघ के सिद्धांत कौन से हैं ? वही जो हिन्दु राष्ट्र के सिद्धांत हैं। वैसे ही संघ के उत्सव भी हिंदु राष्ट्र के परंपरागत उत्सव हैं। इन्हीं परंपरागत उत्सवों में से कुछ उत्सव चुन लिये हैं। इनको चुनने के पीछे भी संस्कारों का ही भाव है, क्योंकि हिंदु समाज में उत्सव, व्रत इत्यादि तो बहुत हैं। दक्षिण में हेमाद्रि पण्डित नाम के एक बड़े

पंडित हो गये हैं, उन्होंने हिंदुओं के सभी व्रतों और उत्सवों का विवरण 'व्रत चिंतामणि' ग्रंथ में दिया है। वह ग्रंथ आप देखेंगे तो दिखेगा कि व्रत और त्यौहार २००० से अधिक हैं। यह ठीक है कि सभी उत्सव सब के लिए नहीं, सभी व्रत सब के लिए नहीं, लेकिन कुल मिलाकर उत्सव और व्रत २००० से ज्यादा हो जाते हैं। सब लेना तो संभव नहीं, उनमें से ६ छाँट लिये हैं। इन छः उत्सवों के चयन के पीछे यही उद्देश्य है कि हिंदु समाज को सुसंगठित करने की दृष्टि से हर हिंदु हृदय पर उपयुक्त संस्कार अंकित करने के लिए जिनकी सहायता हो सकती है ऐसे उत्सव अर्थात् संस्कारों की दृष्टि से उपयुक्त उत्सव चुन लिये । इनमें वर्ष-प्रतिपदा एक उत्सव है।

वर्ष-प्रतिपदा उत्सव के समय हमारे लिए आनन्द का, विचारों को चालना देने वाला एक और प्रसंग आता है, वह यह कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिष्ठाता आद्य-सरसंघचालक परम पूजनीय डा. हेडगेवार जी का जन्म-दिन भी वर्ष-प्रतिपदा का ही दिन है, यह संयोग की बात है। हम जानते हैं कि संघ व्यक्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखता। आजकल जो राजनीतिक क्षेत्र में छवि-निर्माण (Image building) की एक प्रक्रिया चलती है उसको हम गलत समझते हैं। छवि-निर्माण का अर्थ ही होता है कि मूलतः जो छवि (Image) है वह ठीक नहीं है, इसलिए उसका अब ठीक निर्माण करना पड़ रहा है। जैसे कोई व्यक्ति यदि अधिक शृंगार करे तो उसका अर्थ यही है कि मूलतः सौन्दर्य नहीं है इसलिए शृंगार से उस कमी की पूर्ति करनी है। प्रसिद्धि-प्रचार (पब्लिसिटी प्रोपेगण्डा) के लिए यह जो छवि-निर्माण का कार्य होता है इसके ठीक विपरीत संघ की कार्यपद्धति है। बम्बई में एक पत्रकार हैं डी. वी. गोखले, उन्होंने इसका बड़ा अच्छा वर्णन किया है। वे बोले – 'बाहर के क्षेत्रों में तो अपने-अपने नेताओं की छवि निर्मित करने का प्रयास लोग करते हैं, संघ में उल्टा है।' आगे वाक्य यह था कि Sangh has raised great personalities and made all of them face-less (संघ ने महान् व्यक्तित्वों का सृजन किया और उनको मुखाकृति-रहित बनाया।) अर्थात् संघ ने बड़े-बड़े लोगों का निर्माण किया है, श्रेष्ठ लोगों का निर्माण किया है, किन्तु उन सब की अलग-अलग पहचान न बनाकर उन को मुखाकृति- विहीन ही बनाया। 'Face-less' का हिन्दी भाषान्तर होगा कि जिनका कोई 'face' अर्थात् मुखाकृति ही नहीं है, जिनको अलग से पहचाना नहीं जा सकता।

एक ओर तो हिन्दुस्थान में प्रक्रिया चल रही है कि जिनकी कोई योग्यता नहीं उनको भी बड़ा बताना, और दूसरी ओर संघ ने प्रक्रिया चलायी कि बड़ी योग्यता रखने वाले लोगों का तो निर्माण करना किन्तु कोई प्रतिमा-निर्माण नहीं– उनकी कोई छवि निर्मित न करना। इस दृष्टि से हम व्यक्ति-पूजक नहीं हैं। परम पूजनीय

डाक्टर जी को आज अभी हम लोगों ने आद्य-सरसंघचालक-प्रणाम जो दिया, वह व्यक्ति के नाते नहीं दिया। परम पूजनीय डाक्टरजी का जीवन हमारे सामने है, हम जानते हैं कि उनका स्वतंत्र व्यक्तिगत समाप्त हो चुका था। अपने ध्येय के साथ, सिद्धांत के साथ, आदर्शों के साथ वे इतने एकात्म हो गये थे कि सिद्धांत, आदर्श और ध्येय छोड़ कर कोई व्यक्तिगत विचार ही उनके ध्यान में नहीं आता था और इसी कारण एक संघ-शिक्षा-वर्ग में समारोह के समय उनके भाषण के पूर्व एक कविता गायी गयी जिसका हिन्दी में भाषान्तर भी हुआ। कविता थी – "अमूर्त मूर्त मूर्तिमन्त, तुमि समान हों ...." जो हमारा ध्येय अमूर्त है, अव्यक्त है, जिसको हम देख नहीं सकते, वही सगुण-साकार रूप लेकर आपके रूप में हमारे सामने आया है। अर्थात् ये कोई व्यक्ति नहीं हैं, इनकी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा कुछ नहीं है, व्यक्तिगत सुख-सुविधाएं-असुविधाएं कुछ नहीं हैं। ध्येय के साथ इतने एकात्म कि मानो ध्येय ही सगुण-साकार रूप लेकर आया है। इतनी एकात्मता होने के कारण परम पूजनीय डाक्टरजी का स्मरण करना तो ध्येय का ही स्मरण करना है।

इसी दृष्टि से आज वर्ष-प्रतिपदा के उत्सव को छः उत्सवों में से एक उत्सव के नाते जहाँ हम मना रहे हैं वहाँ क्योंकि संयोग से यही परम पूजनीय डाक्टरजी का जन्मदिन है तो अपने सम्पूर्ण ध्येय का, आदर्शों का, कार्यपद्धति का, सभी बातों का इकट्ठा स्मरण करने की दृष्टि से, ध्येय और व्यक्तिगत में जो द्वैत होता है वह द्वैत जिनका समाप्त हो चुका है, ऐसे अपने परम पूजनीय डाक्टरजी को हमने आज आद्य-सरसंघचालक-प्रणाम भी दिया है।

अब जैसा मैंने कहा कि प्रत्येक हिन्दू हृदय पर उपयुक्त संस्कार अंकित करने की दृष्टि से सम्पूर्ण कार्यपद्धति है, एक-एक कार्यक्रम है, छः उत्सव हैं, उनमें से वर्ष-प्रतिपदा भी एक है। वर्ष--प्रतिपदा कौन सा संस्कार हमारे हृदय पर अंकित करना चाहती है ? हम देखते हैं कि प्रति-वर्ष संवत्सर के आरम्भ में वर्ष-प्रतिपदा आती है अर्थात् यह नववर्ष का प्रारम्भ है। नव वर्ष का प्रारम्भ है तो नवीनता है। पुरानी बात यहाँ समाप्त होती है, नयी बात प्रारम्भ होती है, तो एक प्रकार से नया अध्याय है। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रति वर्ष एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।

यह एक चक्र है : नवीनता भी है और यह नवीनता सृष्टि के किसी चक्र में बिठायी हुई है, इसलिए उसके कुछ नियम भी हैं। तो यह उत्सव हमें यह संदेश देता है कि हम लोगों ने नवीनता भी धारण करनी है, किन्तु यह नवीनता सृष्टिचक्र के अन्तर्गत, किसी विशेष नियम के अन्तर्गत आनी चाहिए। सृष्टि के वे नियम जो सनातन काल से चलते आये हैं और साथ ही साथ वह नवीनता भी जो इस समय के लिए आवश्यक है, दोनों उपयुक्त हैं। हमारे एक संघ-गीत में प्रयुक्त शब्द-प्रयोग "चिर पुरातन, नित्य नूतन" के अपने इस स्वरूप का स्मरण देने वाला उत्सव

वर्ष-प्रतिपदा है।

अब यह हिन्दु बात समझना पाश्चात्य लोगों के लिए बहुत कठिन है क्योंकि पाश्चात्य लोगों की संस्कृति का स्तर बहुत छोटा है। उनकी भौतिक प्रगति का स्तर बहुत बड़ा होगा, किन्तु हमारी तुलना में वे सब बच्चे राष्ट्र हैं। बच्चे उछल-कूद अधिक कर सकते हैं, किन्तु उनके अन्दर परिपक्वता, प्रौढ़ता कम होती है। ऐसे ही उन्होंने भौतिक प्रगति बहुत की होगी, चन्द्रमा पर पहुँचे होंगे, और कहीं पहुँच जायेंगे, लेकिन सांस्कृतिक परिपक्वता (Cultural maturity) बहुत कम होने के कारण हिन्दुओं की चिर पुरातन नित्य नूतन की यह परिपक्व कल्पना समझने में वे असमर्थ हैं। वे दो बातें समझ सकते हैं : एक बात कि जो पुरानी परम्परा चलती आयी है, बस उसी को पुनरुज्जीवित करना है। पहले जो बात हो उसी को फिर जैसे का तैसा स्थापित करना है, लाना है। और दूसरी बात समझ सकते हैं कि पुरानी बात यदि कालबाह्य (Out dated) हो गयी तो उसको छोड़ दीजिए; अब नया काम प्रारंभ कर दें, अर्थात् भूतकाल के साथ कोई सम्बंध नहीं, अब हम नया भविष्य बनायेंगे। अंग्रेजी में एक अवस्था को कहते हैं Status-quo अर्थात् यथास्थिति। यथास्थितिवाद (स्टेटस कुओइज्म) माने फिर से वही लाना है जो पहले था, दो सौ वर्ष पहले या हजार वर्ष पहले । हम वेदों का उल्लेख करते हैं तो मान लिया जाता है कि जैसा वैदिक काल में था, वैसी की वैसी रचना फिर से लानी है। यह यथास्थितिवाद है। पाश्चात्य लोग या तो इसे समझते हैं, या फिर आजकल कल्पनावैचित्र्यवादी ('रोमांटिक') लोगों ने एक शब्द-प्रयोग प्रचलित किया है। सम्पूर्ण क्रांति (टोटल रिवॉल्यूशन)। यह एक पाश्चात्य कल्पना है जिसका अर्थ होता है हम समाज की केवल ऊपर की संरचना बदलने वाले नहीं हैं वरन् अधिष्ठान के रूप में जिन सिद्धांतों के आधार पर समाज अब तक चलता आया है वे सारे सिद्धांत भी हम बदलने वाले हैं। अर्थात् ऊपर का भवन ही बदलने वाले नहीं, अपितु नींव भी बदलने वाले हैं। इसकी सम्पूर्ण क्रांति संज्ञा है। सब कुछ बदलना, जो भी पुराना है वह सब समाप्त कर नये सिरे से चलना, ऐसी यह सम्पूर्ण क्रांति ('टोटल रिवॉल्यूशन') की कल्पना वे समझ सकते हैं या फिर यथास्थितिवाद (स्टेटस कुओइज्म) समझ सकते हैं।

हिन्दु परिपक्व है। हो सकता है कि कालचक्र में गत हजार वर्ष चूँकि हम लोगों को अपनी समाज-रचना का विचार करने के लिए अवकाश नहीं था, इस कारण हम भौतिक दृष्टि से पिछड़ गये हों, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से हम उनसे परिपक्व हैं और जानते हैं कि कुछ सिद्धांत शाश्वत हैं, जैसे अग्नि का धर्म है—उष्णता और प्रकाश; वह वेदकाल में भी था, आज भी है, २००० वर्ष के बाद और १०,००० वर्ष के बाद भी रहेगा। इस प्रकार के शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में, जैसे-जैसे परिस्थिति

बदलती है वैसे-वैसे समाज-रचना के नियमों में परिवर्तन करना, अर्थात् अपरिवर्तनीय शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में अखण्ड परिवर्तनशील समाज-रचना हिन्दुओं की परम्परा और विशेषता रही है। इसी दृष्टि से 'चिर-पुरातन नित्य-नूतन' का अर्थ है– अपरिवर्तनीय, त्रिकालाबाधित, शाश्वत, सनातन सिद्धांत, और जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, समस्याएँ बदलती हैं, समाज की आवश्यकताएं बदलती हैं वैसे-वैसे उन त्रिकालाबाधित, शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में समाज की नव-नवीन रचना, हर समय नवीन रचना। किन्तु वह नवीन रचना भूतकाल से सम्बन्ध रखते हुए, शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में बने, यह हिन्दू समाज की विशेषता रही है। शाश्वत, अपरिवर्तनीय सिद्धांतों के प्रकाश में परिवर्तनशेल समाज-रचना, और इसीलिए हम दूसरी भाषा में कहते हैं – भूतकाल के साथ सम्बन्ध रखते हुए भविष्य का विचार करना। यह नहीं कि भूतकाल के साथ सम्बन्ध छोड़ दिया और बस केवल भविष्य का विचार करेंगे। हिन्दुओं को आत्मविस्मृत बनाने का प्रयास करने वाले लार्ड मैकाले का एक बड़ा अच्छा वाक्य है कि 'जो पीढ़ी अपने पूर्वजों के किये हुए महान् कार्यों का स्मरण नहीं करती, उस पीढ़ी के हाथ से ऐसा कोई काम हो ही नहीं सकता जिसका स्मरण उसके वंशज करेंगे। तो भूतकाल के साथ संबंध रखते हुए भविष्य का विचार पुनरुत्थानवाद (रिवाइवलिज्म) नहीं, पुनरुज्जीवनवाद नहीं। जैसे वृक्ष होता है – वृक्ष की जड़ें धरती में हैं लेकिन वह बढ़ता है आकाश की ओर। जड़ें भूमि के अन्दर हैं इसलिए वह भूमि में ही बढ़ रहा हो, ऐसा नहीं; वह आकाश की ओर बढ़ रहा है। किन्तु आकाश की ओर बढ़ रहा है इसलिए भूमि से जड़ें उखड़ गयी हों, ऐसा भी नहीं है। जितनी जड़ें धरती के अन्दर और नीचे जायेंगी, उतना ही वह वृक्ष अधिक पुष्ट होता है, स्वस्थ-सुदृढ़ होता है। आकाश की ओर दोनों बढ़ते हैं– बच्चों की पतंग भी आकाश की ओर बढ़ती है और वृक्ष भी आकाश की ओर बढ़ता है। वैसे यदि देखा जाय तो वृक्ष तो आकाश की ओर बड़े धीरे-धीरे बढ़ता है, और बच्चों की पतंग तुरन्त उठकर आकाश में ऊपर चली जाती है। बहुत शीघ्र प्रगति हो गयी तो लगता है जैसे क्रांति हो गयी। लेकिन पतंग की जड़ें धरती में नहीं रहतीं, इस कारण थोड़ा सा कहीं झटका लग जाता है तो पतंग गिर पड़ती है या कहीं लटककर रह जाती है, टिक नहीं सकती। और कितनी भी आँधी आ जाये, जिसकी जड़ें धरती के अन्दर पक्की हैं, वह वृक्ष आँधी-तूफान में भी खड़ा रहता है। वैचित्र्यवादी (रोमांटिक) लोगों का जो सोचना है, जो भूतकाल से सम्बन्ध तोड़ना चाहते हैं, वह पतंग के समान है। भूमि में अपनी जड़ें सुदृढ़ रखते हुए ऊपर आकाश की ओर बढ़ने वाले पेड़ के समान भूतकाल में, अपनी परम्परा में, अपनी संस्कृति में सुदृढ़ आस्था रखते हुए भविष्य का विचार नये सिरे से करना हिन्दू परम्परा है। इसलिए कहा है चिर-पुरातन, नित्य-नूतन। यहाँ परम्परा भी है, सातत्य भी है, पुरातनता भी है, नवीनता भी है।

शास्त्रज्ञ लोग अपने शरीर का, निसर्ग का, प्रकृति का यह नियम बताते हैं कि यह शरीर हर क्षण में बदलता है। शरीर बदलता है, हमें दिखता नहीं किन्तु इसकी एक-एक कोशिका, एक-एक तन्तु, एक-एक मांसपेशी परिवर्तनशील है, उसमें अखण्ड परिवर्तन चलता रहता है। जैसे यह पृथ्वी बड़ी तीव्र गति से घूम रही है, किन्तु हमें दिखती नहीं, वैसे ही हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव बहुत तेजी के साथ बदलता है। इस समय ये जो हमारे हाथ हैं, शास्त्र कहता है कि ५ मिनट के बाद वही हाथ ऐसे के ऐसे नहीं रहेंगे। इनकी कोशिकाएं बदलेंगी, तन्तुओं में अन्तर आयेगा; इनमें परिवर्तन होता है किन्तु सातत्य भी है। ऐसा लगता नहीं कि भई, यह कोई नया हाथ है। हाथ वही दिखता है, शरीर वही है, अहम् (अस्मिता) वही है, वही सातत्य, वही परम्परा रहते हुए अखण्ड परिवर्तन होता जाता है। नदी का उदाहरण लीजिए, एक ग्रीक विचारक हेराक्लाइटस ने बड़ा अच्छा वाक्य कहा है– तुम एक ही नदी में दो बार नहीं नहा सकते। आपको आश्चर्य होगा कि हम नदी में दो बार तो क्या, हजार बार नहा सकते हैं! किन्तु उसके कहने का अभिप्राय यह है कि आप यहाँ खड़े हैं, नदी बह रही है, नदी वही है – गंगा हो, यमुना हो, सिन्धु हो, ब्रह्मपुत्र हो, नदी तो वही है किन्तु वह बह रही है; आपने डुबकी लगायी, आप पानी के बाहर आये, फिर से डुबकी लगाते हैं तो आप उस पानी में डुबकी नहीं लगा सकते जिसमें अभी पहले डुबकी लगायी थी; उस समय जो पानी था वह तो बह गया, अब नया पानी है। अब आप डुबकी लगायेंगे तो पानी दूसरा रहेगा। इसलिए हेराक्लाइटस ने कहा कि तुम एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते। बहती नदी का पानी सदैव बदलता रहता है, नया पानी आता है और पुराना पानी चला जाता है। इसलिए नदी बदल गयी, ऐसा नहीं है। नदी तो हजारों वर्षों से गंगा या यमुना, ही चलती आयी है। हजारों वर्षों से चलती आ रही नदी की एक अखण्ड परम्परा भी बनी हुई है और साथ ही साथ नवीनता भी है कि हर समय पानी बदलता ही रहता है। हिन्दुओं की यह विशेषता है जो पाश्चात्य बालराष्ट्र नहीं समझ सकते कि भूतकाल के प्रकाश में भविष्य का विचार, भूमि के अन्दर सुदृढ़ मूल रखते हुए आकाश की ओर बढ़ना, सनातन, शाश्वत, अपरिवर्तनीय सिद्धांतों के प्रकाश में परिवर्तनशील समाज-रचना कैसे होती है। 'चिर-पुरातन, नित्य-नूतन' हिन्दुओं की विशेषता है, इसका स्मरण देने वाला उत्सव यह वर्ष-प्रतिपदा है।

प्रतिवर्ष हम इसे मनाते हैं, इसका जो सन्देश है उसका भी हम लोग स्मरण करते हैं, किन्तु जैसा मैंने कहा कि हमारा उत्सव हो, संघ-शिक्षा-वर्ग हो, शिविर हो, बार-बार हमें कष्ट देने वाली बैठकें हों – जितने भी नित्य, नैमित्तिक, नियमित, अनियमित कार्यक्रम संघ के आते हैं– वे अलग-अलग नहीं हैं, सब मिलकर एक सम्पूर्ण कार्यपद्धति का ढाँचा है। सभी का एक लक्ष्य है– उपयुक्त संस्कार देना,उसके

द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण समाज के साथ एकात्म करना, ऐसे व्यक्तियों का अनुशासनबद्ध संगठन खड़ा करना और इस संगठन की सीमाएं एक रूप हो जायें, यही एक मात्र उद्देश्य लेकर संपूर्ण कार्यपद्धति का ढाँचा खड़ा है। कुल मिलाकर सब का एक परिणाम है। ये अलग-अलग बातें नहीं हैं, सब मिलकर एक योजना है। इस दृष्टि से इनमें से प्रत्येक कार्यक्रम करते समय हमें अपनी कार्यपद्धति का स्मरण करना आवश्यक है। कुल मिलाकर अपनी संपूर्ण कार्यपद्धति एक इकाई है । हमारे कुछ ध्येय हैं, आदर्श हैं, सिद्धांत हैं; उनकी प्राप्ति की दृष्टि से संगठन खड़ा करना है, उस दृष्टि से प्रत्येक हृदय को संस्कारित करना है, यह सारी बात हमारे ध्यान में है और इस दृष्टि से उपयुक्त कार्यपद्धति का विकास संघ में हुआ है।

इस कार्यपद्धति के विषय में इतने वर्षों के अनुभव के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। और जहाँ तक मुझे स्मरण हो रहा है, यहाँ पर पिछली बार के बौद्धिक वर्ग में यही बात कही थी, उसे मैं फिर दोहराना चाहता हूँ। यह दोहराना भी चिर-पुरातन नित्य-नूतन का ही स्वरूप है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर उपयुक्त संस्कार करते हुए, उसको समाज के साथ एकात्म करते हुए, ऐसे व्यक्तियों का अनुशासनबद्ध संगठन खड़ा करने के संघ के उद्दिष्ट की पूर्ति के लिए संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। इसका निहितार्थ दो प्रकार का है– एक, इस कार्यपद्धति को लेकर यदि हम चलते हैं तो किसी दूसरी पूरक (Supplimentry) कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है और दूसरा, किसी भी मोह में आकर मार्ग-लाघव (short-cut) के चक्कर में यदि हम इस कार्यपद्धति को छोड़ते हैं तो दूसरी कोई वैकल्पिक कार्यपद्धति नहीं हो सकती जो हमें वहाँ पहुँचा सके जहाँ संघ पहुँचना चाहता है। इस प्रकार दोनों ही अर्थों में संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है, ऐसा निष्कर्ष हम लोगों ने निकाला है। यह केवल हमारी धारणा है, ऐसा नहीं, वरन् अब तक का अनुभव भी हमें यही बताता है कि यह निष्कर्ष सही है।

अब हम यह देखें कि संघ के जीवन के साठ वर्ष (१९२५-१९८५) का अनुभव क्या है ? संघ का सारा इतिहास हम जानते हैं। यह भी जानते हैं कि यह कार्य बहुत कठिन है ; प्रतिदिन संघ स्थान पर आने में कोई आकर्षण नहीं , एक-एक स्वयंसेवक का निर्माण बहुत कठिन है, उसके लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है; कार्यक्रमों में भी कोई आकर्षण नहीं, एक-एक शाखा चलाने में कितना परिश्रम लगता है, आदि। इतना सब होते हुए भी हम समझते हैं कि कार्यपद्धति की संपूर्ण योजना भले ही कठिन हो, तो भी हमें यशस्विता को ओर ले जाने वाली है; तुरंत चमत्कार दिखाने वाली नहीं है जैसा अन्य क्षेत्रों में लोग सोचते हैं।

वास्तव में हमारी कार्यपद्धित पर हमारा जो विश्वास है, श्रद्धा है, वह कहाँ तक ठीक है, उसकी केवल एक झलक देखने के लिए हम तीन दृश्य अपने सामने

रखें। संघ का प्रारम्भ हुआ वह एक, विजयादशमी के अवसर पर संघ साठ वर्ष पूरे कर रहा है तो आज का दृश्य, और चूँकि यह साठ वर्ष का समय है इसलिए आरंभ होने के ३० वर्ष के बाद १९५५ में संघ की अवस्था क्या थी, यह देखा जाय। थोड़ा हम विचार करें तो समझने में सरलता होगी कि वास्तव में संपूर्ण योजना के नाते जो कार्यपद्धति हमारे सामने है, वही उपयुक्त है या नहीं। हमारा तो यह दावा है कि संगठन बनाने की दृष्टि से संसार में सबसे उपयुक्त कार्यपद्धति संघ की है। इस दावे के बारे में हम इस प्रकार देखें कि हम लोग या तो पिछड़ गये, या आगे बढ़ रहे हैं। यह ठीक है कि यह काम धीरे-धीरे होने वाला काम है। लेकिन ६० वर्ष के जीवन में हमारे ऊपर कितनी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आयीं, फिर भी आज हम कहाँ खड़े हैं, साठ वर्ष पहले कहाँ खड़े थे और बीच में ३० वर्ष पूर्व कहाँ खड़े थे, केवल एक झलक के नाते इसे देखना आवश्यक है।

पहला दृश्य हम देखें, विस्तृत विवरण की आवश्यकता नहीं है, १९२५ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई इसका किसी को पता ही नहीं था। लगभग उसी समय एक दूसरा जो महान् उपक्रम प्रारम्भ हुआ था, उसको इससे तुलना की जाये। २७ सितंबर १९२५ को संघ का निर्माण हुआ जो विजयादशमी का दिन था। उससे लगभग ५ वर्ष पहले ताशकंद याने रूस में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया का निर्माण हुआ। गणना करें तो कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से पाँच वर्ष में तीन दिन कम, इतनी ज्येष्ठ है। अब संगठन की दृष्टि से दोनों के आरम्भ-विन्दु देखे जायें।

२७ सितंबर १९२५ को जब संघ की स्थापना हुई उस समय देश को तो पता नहीं ही था परंतु विदर्भ, यहाँ तक कि नागपुर वालों को भी पता नहीं था कि किसी महान् संगठन का निर्माण हुआ है। दिसंबर १९२५ तक, अर्थात् तीन महीने भी पूरे नहीं होते, संघ की शक्ति क्या होगी ? एक तो संघ केवल नागपुर में ही था, पूरे नागपुर वाले भी उसके बारे में जानकारी नहीं रखते थे। वह एक मुहल्ले में था, दूसरी शाखा भी नहीं थी दिसंबर १९२५ तक, और उस समय कितने लोग होंगे इसका पता लगाना भी बहुत कठिन है। मैंने बीच में यह जानने का प्रयत्न किया था कि कितने लोगों को लेकर डाक्टरजी ने काम प्रारंभ किया, क्योंकि मैं तो बाद में संघ में आया। लेकिन इसका पता ही नहीं चलता। कोई कहता पाँच, कोई बारह, तो कोई बीस कहता। हमने खोज करने का प्रयत्न किया, किंतु कठिन इसलिए हो गया कि जिन पहले ५ लोगों को लेकर संघ का काम प्रारंभ हुआ 'उनमें से एक मैं था' कहने वाले कम से कम ५००० लोग हमको नागपुर नगर में मिले। 'हम उन ५ लोगों में से थे जिनको लेकर आपके डाक्टरजी ने संघ शुरू किया था। आप क्या समझते हैं ? आप तो बच्चे थे उस समय।'– ऐसा कहने वाले ५००० लोग नागपुर में मिले। संघ में उस

समय कितनी संख्या थी, इसका लेखा-जोखा किसी को पता नहीं । किन्तु अब आप शाखा चला रहे हैं, आप अनुमान लगा सकते हैं कि तीन महीने में शाखा की संख्या कितनी होगी। एक ही शाखा थी, ६०-७०-१०० से ज्यादा नहीं थी, और नागपुर के बाहर किसी को पता नहीं था कि संघ प्रारंभ हुआ है। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी (CPI) का अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर में हुआ जिसमें ६-७ राज्यों से ५०० प्रतिनिधि आये थे। अर्थात् संगठनात्मक दृष्टि से आरम्भ-विन्दु पर अन्तर कितना है कि जिस समय हमारी संख्या १०० भी नहीं होगी, उनके ५०० प्रतिनिधि ६-७ राज्यों से आये थे। उनके पीछे यशस्वी रशियन क्रांति का एक बड़ा ग्लैमर था और भारत में उस समय कम्युनिज्म की ओर झुकने वाले लोग 'इज्म' (वाद) के कारण नहीं झुकते थे, गांधी जी की अहिंसा जिनको स्वीकार नहीं थी और कुछ न कुछ सनसनीखेज चाहने वालों के लिए बड़ा आकर्षण था कि वहाँ तो राज्य-क्रांति यशस्वी हुई है ! जागतिक स्तर पर एक बहुत बड़ी शक्ति, रूस की कम्युनिस्ट पार्टी इनके पीछे खड़ी थी और पूरे जगत् में कम्युनिज्म का बोलबाला था।

उस समय हमारी दशा यह थी कि 'मैं हिंदु हूँ' कहने में भी लोगों को ग्लानि लगती थी। यहाँ तक कि एक बड़े नेता ने कहा कि "आप मुझे कुछ भी कहिए, गधा कहिए, लेकिन हिन्दू मत कहिए।" मध्यप्रदेश विधान-परिषद् में संघ का बचाव करने का प्रयास करने वाले डा. टी.वी. केदार ने परिषद् में भाषण देते हुए कहा कि डा. हेडगेवार कोई पागल नहीं हैं जो कहेंगे कि यह एक हिन्दू राष्ट्र है। यह वक्तव्य हमारा बचाव करने वाले भले मानुष का था ! हिन्दू का कितना अवमूल्यन, कितना विचलन हुआ था, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं क्योंकि हमारे साथी भी अपने को हिन्दू कहने के लिए तैयार नहीं थे। और दूसरी ओर संपूर्ण जगत् में जिसके कारण सनसनी फैल गयी थी उस रूसी राज्य-क्रांति के कारण कम्युनिस्टों की एक अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा थी।

मैं कम्युनिस्टों का उदाहरण इसलिए दे रहा हूँ कि सभी पाश्चात्य राष्ट्रों ने यह मान लिया है कि संगठन-शास्त्र सबसे अधिक कम्युनिस्ट ही जानते हैं और कम्युनिस्टों ने ही उसका विकास किया है। पश्चिम में लेनिन को संगठनशास्त्र का सबसे बड़ा विशेषज्ञ माना जाता है। लेनिन के सिद्धांत से विरोध रखने वाले भी कहते हैं कि संगठन-शास्त्र सीखना है तो लेनिन से सीखना चाहिए। संगठनशास्त्रज्ञ के नाते जिसका लोहा पश्चिम ने मान लिया है उस लेनिन के संगठनशास्त्र पर चलने वाले दल का यहाँ निर्माण हुआ जिसके पीछे अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा थी। हमारे बारे में हमारे प्रारंभ के समय नागपुर वाले भी नहीं जानते थे और उनके उस समय ६-७ राज्यों से ५०० लोग इकट्ठा आ सके, यह प्रारम्भ-विंदु था।

३० वर्ष के बाद १९५५ में दोनों का तुलनात्मक दृश्य क्या था ? आप में जो

कुछ बड़ी आयु वाले लोग हैं वे जानते होंगे कि ५५ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ संकट में ही था। गांधीजी की हत्या के आरोप में न्यायालय ने संघ को पूर्णतः निर्दोष बताया तो भी संघ के विरुद्ध जबरदस्ती राजनीतिक दुष्प्रचार (प्रोपेगंडा) चलाया गया जिसकी शिकार सामान्य जनता हो रही थी। संघ को दबाने का प्रयत्न करने वालों का शासन था और केवल शासन ही नहीं अपितु उनका लोगों पर प्रभाव था, बोलबाला था। हिन्दू, हिन्दुत्व, हिन्दु राष्ट्र, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, इन सबके साथ उस समय गांधी जी की हत्या का संबंध जोड़े जाने के कारण इसमें १९२५ से भी अधिक ग्लानि का अनुभव होता था। इस स्थिति में हम १९५५ में थे।

उस समय कम्युनिस्टों की स्थिति क्या थी ? दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ था, पूँजीवादी अमेरिका की सहायता से कम्युनिस्ट रूस ने अपने को बचा लिया था और महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात हुए समझौते में पूर्व यूरोप के अनेक राष्ट्र रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये थे और फिर थोड़े ही दिनों के बाद चीन जैसा सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश भी कम्युनिस्टों के झण्डे के नीचे आया था। एक-तिहाई पृथ्वी कम्युनिस्ट झंडे के नीचे थी और सोचा जा रहा था कि अब तो लाल झंडा आगे ही बढ़ने वाला है। यह कम्युनिज्म का विजयी अश्व है, एक-तिहाई संसार अब लाल झंडे के नीचे आ ही गया, शेष जगत् को भी उस के नीचे आना ही पड़ेगा, जायेंगे कहाँ ? कम्युनिस्टों की विजय अपरिहार्य है, इसके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ? यह विश्वास उस समय निर्मित हुआ था जब हिन्दु, हिन्दुत्व, हिन्दुराष्ट्र और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नाम लेने में भी लोग ग्लानि का अनुभव कर रहे थे।

आज १९८५ में हम देखें, वे कहाँ हैं और हम कहाँ हैं ? (यह भाषण अब से बारह पूर्व का है।) सारे संसार को एक-केन्द्रित कम्युनिस्ट साम्राज्य बनाने का उनका जो स्वप्न था, वह आज टूट गया है। मास्को केन्द्र रहेगा और सारी पृथ्वी एक-छत्र कम्युनिस्ट साम्राज्य के अन्तर्गत रहेगी, अब कोई सोच नहीं रहा। राष्ट्रीयत्व समाप्त होगा, उन्होंने कहा था। राष्ट्रीयत्व प्रबल है। एकछत्र कम्युनिस्ट साम्राज्य की बात छोड़िए, आज हर कम्युनिस्ट देश दूसरे कम्युनिस्ट देश के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहा है। चीन और रूस की नहीं बनती, चीन और वियतनाम आपस में झगड़ रहे हैं और हर एक कम्युनिस्ट देश दूसरे को पथभ्रष्ट कहता है। यूगोस्लाविया रूस को पथभ्रष्ट कहता है, रूस यूगोस्लाविया को पथभ्रष्ट कहता है, दोनों चीन को पथभ्रष्ट कहते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे को गाली दे रहे हैं, यह दृश्य है। विश्व में हमारे हिंदुस्थान में यदि गृह-मंत्रालय के प्रतिवेदन को सही माना जाय तो केवल नक्सलवादियों के ही २६ गुट हैं और फिर जो छोटी-बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं कुल मिलाकर ३१ पार्टियों में हिन्दुस्थान के कम्युनिस्ट विभक्त हैं। अर्थात् सारे संसार को एक छत्र के अन्तर्गत लाने का जिनका स्वप्न था उनके एक देश में ३१ गुट हैं और

वे भी कैसे कि आप यदि समाचार-पत्र पढ़ते हैं तो जानते होंगे, हर एक कम्युनिस्ट दूसरे को पथभ्रष्ट कहता है। राजश्वेरराव नम्बूदरीपाद को पथभ्रष्ट कहते हैं, नम्बूदरीपाद डांगे को पथभ्रष्ट कहते हैं, सब मिलकर चारु मजूमदार को पथभ्रष्ट कहते हैं, हर गुट दूसरे को पथभ्रष्ट कहता है। आपस में इतनी खींचतान और एक-दूसरे की टांग खींचने का उनका आज प्रयास चल रहा है। १९५५ में एक-तिहाई जगत् के एक झंडे के नीचे आने का जो दृश्य था वह आज टूट गया है। आज रूस को भी लोग गाली दे रहे हैं, चीन को भी गाली दे रहे हैं कि तुमने कम्युनिज्म को छोड़ा है। कम्युनिज्य के सिद्धांतों को छोड़ने की होड़ कम्युनिस्ट देशों में लग रही है। अभी, जिसको कहते हैं 'ऊँट की पीठ पर अन्तिम तिनका', आपने पढ़ा होगा कि पिछले २० अक्टूबर (१९८४) को विश्व की सबसे बड़ी कम्युनिस्ट पार्टी अर्थात् चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने आर्थिक पुनर्रचना का जो संकल्प पारित किया है उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि मार्क्सवाद के सिद्धांत के आधार पर नयी परिस्थिति में काम नहीं चल सकता। मार्क्स को हम बड़ा समझते हैं, लेकिन उसके सिद्धांत पर चलना इस समय संभव नहीं। और पिछले ७ दिसम्बर (१९८४) को संसार की इस सबसे बड़ी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने मुखपत्र 'पीपुल्स डेली' के अग्रलेख (संपादकीय) में स्पष्ट रूप से लिखा कि हम मार्क्स के शिष्य हैं, मार्क्स को बहुत मानते हैं, परन्तु वास्तविकता यही है कि उन्होंने जिन परिस्थितियों की कल्पना भी नहीं की थी उन परिस्थितियों का सामना हम कर रहे हैं, इस कारण उनके सिद्धांतों को लेकर आज की समस्याओं का समाधान संभव नहीं; हम को नये सिरे से अपना ही विचार करना होगा। इस प्रकार मार्क्स का पूजन करते हुए मार्क्स के सिद्धांतों से तलाक लेने की घोषणा उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने संपादकीय में की है।

हिंदुस्थान में भी कम्युनिस्टों की श्रद्धाएं टूट रही हैं। १९५५ में हमारे स्वयंसेवकों द्वारा चलायी गयी संस्थाएं बहुत कम थीं, हमारा भारतीय मजदूर संघ भी नहीं था। विद्यार्थी परिषद् केवल चल रही थी। थोड़ी सी संस्थाएं थीं। राष्ट्र-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कम्युनिस्टों ने अपनी संस्थाएं आरंभ की थीं और उनका ही बोलबाला था। मैं जब कॉलिज में था तो केवल स्टूडेंट फेडरेशन का ही नाम था, मजदूर क्षेत्र में ऐटक (AITUC) का नाम था, किसान क्षेत्र में किसान सभा का ही नाम हर स्थान पर था। जब स्वयंसेवकों ने अन्यान्य क्षेत्रों में नया-नया प्रवेश किया तो लोग कहते थे कि यह कोई दक्ष-आरम् करना नहीं है, यह निकर पहनना नहीं है, बड़ा टेढ़ा काम है, आप लोग क्या कर सकेंगे ? किन्तु जहाँ-जहाँ हम लोगों ने प्रवेश किया, हम देखते हैं कि कम्युनिस्टों पर बाजी मारते हुए हमारे स्वयंसेवकों ने अपने-अपने संगठनों को बढ़ाया है। श्रमिक-क्षेत्र को उनका गढ़ माना जाता था। आप भी जानते हैं कि आज दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों के श्रमिक-संघों (Trade unions) की संयुक्त

शक्ति से हमारे स्वयंसेवकों की चलायी हुई संस्था की शक्ति ज्यादा है, ऐसा भारत सरकार ने घोषित किया है। विद्यार्थी-क्षेत्र में भी आज वही स्थिति है। तो जिन संस्थाओं में स्वयंसेवक अपना प्रभाव रख रहे हैं उन संस्थाओं की प्रगति कम्युनिस्टों की संस्थाओं की प्रगति से अधिक है। शाखाओं की प्रगति है, स्वयंसेवकों की संख्या में प्रगति है, फिर विश्व हिन्दु परिषद् जैसा अखिल भारतीय स्तर पर ही नहीं अपितु अखिल विश्व के स्तर पर हमारा काम फैल रहा है। यह दृश्य जब हम देखते हैं तो बड़ा विचित्र अनुभव होता है कि अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा से कम्युनिस्टों का काम प्रारंभ हुआ और होते-होते हर देश में कम्युनिस्ट अलग-अलग वर्गों में, अलग-अलग गुटों में बँटे हुए एक-दूसरे की टांग खींच रहे हैं, एक-दूसरे की पिटाई कर रहे हैं– उनका संकोच हुआ है। हमने नागपुर की गली में काम प्रारंभ किया, नागपुर वाले भी जानते नहीं थे कि संघ प्रारंभ हुआ है और आज अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे लोग पहुँच गये हैं– क्या विश्व हिन्दु परिषद्, क्या FISI नाम की संस्था (Friends of India Society International), अलग-अलग ८२ देशों में हमारे स्वयंसेवक आज हैं। तो हमने गली से प्रारम्भ किया और आज अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र तक पहुँच गये हैं; उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा से प्रारंभ किया और आज हर गली में एक-दूसरे की टांग खींच रहे हैं। सम्पूर्ण पश्चिम ने जिस लेनिन को संगठन शास्त्र का विशेषज्ञ मान लिया था उस लेनिन के तंत्र से काम करने वाले लोग आज इस दशा में हैं और डा. हेडगेवार का नाम जबकि कोई जानता भी नहीं था, उनके तंत्र को लेकर हम इस प्रकार से आगे बढ़ते चले जा रहे हैं ! यह ठीक है कि गति धीमी है, पर बड़ा काम धीरे-धीरे ही होता है। लेनिन उनका सबसे बड़ा शास्त्रज्ञ था, उसके शास्त्र का परिणाम क्या है ? दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है, यह बात हम समझ सकते हैं।

इस कार्यपद्धति के नित्य कार्यक्रम के बारे में, नैमित्तिक कार्यक्रम के बारे में हम अपनी पूर्ण श्रद्धा रखें। जैसा मैंने कहा कि नित्य कार्यक्रम अर्थात् दिन-प्रति-दिन का एकत्रीकरण और नैमित्तिक कार्यक्रम अर्थात् अनियमित बैठकें, संचालन, शिविर आदि और हमारे उत्सव, कुल मिलाकर एक सम्पूर्ण योजना होती है। सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ यदि हम अपनी कार्यपद्धति पर आचरण करते हैं तो संघ के जीवन में उतार आये, चढ़ाव आये, अच्छे दिन आयें, बुरे दिन आयें, संघ की प्रगति अवश्य होगी भले ही धीमी गति से हो। यह गति धीमी ही रहेगी। लेकिन जैसे पतंग के समान तेजी से बहुत ऊपर चले गये और बाद में कट गये तो फिर पता ही नहीं चलता कि पतंग कहाँ गयी, ऐसा नहीं वरन् धरती में जड़ें गहरी रखते हुए धीरे-धीरे आकाश की ओर बढ़ने वाले वृक्ष के समान संघ की प्रगति हो रही है। अतः सारा समझकर हम एक-एक कार्यक्रम का क्रियान्वयन करें, इतना ही कहना इस समय पर्याप्त है।

प्रकाशक : सुरुचि प्रकाशन, देशबन्धु गुप्त मार्ग, झण्डेवालन, नयी दिल्ली- ११००५५
शब्द-संयोजक (लेजर) : अल्फा ग्राफिक्स
मुद्रक : ग्राफिक वर्ल्ड, 1686, कूंचा दखनी राय स्ट्रीट,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
मूल्य : रु. 10.00 रुपये